

Scanned

7-9

विज्ञानभैरवः
VIJÑĀNABHAIRAVA

Shri Madhavanand Granthmala's Third Pushpa-



VIJÑĀNABHAIRAVA

With the Vivṛti

OF

ŚRĪ KṢEMARĀJA ĀCĀRYA

and

ŚRĪ ŚIVOPĀDHYĀYA

edited with introduction

by

SARVADARŚANĀCĀRYA ŚRĪ KṚṢṆĀNANDA SĀGARA

PRATYABHIJÑĀ-PRAKĀŚANA

VARANASI

श्रीमाधवानन्दग्रन्थमालायाः तृतीयं पुष्पम्—



विज्ञानभैरवः

श्रीक्षेमराजाचार्यविरचितवि वृत्तिभागोत्तरं
श्रीशिवोपाध्यायविरचितविवृत्युपेतः

सर्वदर्शनाचार्यश्रीकृष्णानन्दसागरेण
भूमिकया सह सम्पाद्य
प्रकाशितः

प्रत्यभिज्ञा-प्रकाशनम्
वाराणसी

Publisher

© Pratyabhijñā-Prakāśana

For Ācārya Kṛṣṇānanda Sāgara

D. 38/135, Bans Phatak

Varanasi-221 001

Pratyabhijñā-Prakāśana

First edition : 1987

Price Rs. 100-00

Printers :

Srigokul Mudranalaya

Gopal Mandir Lane,

Varanasi-221 001

भूमिका

यह प्रश्न और प्रतिवचन के रूप में विद्यमान 'विज्ञानभैरव' आगमिक विचारधारा का ग्रन्थरत्न है। इसका प्रादुर्भाव 'रुद्रयामलतन्त्रम्' से हुआ है। आगम-तन्त्रशास्त्र के सभी ग्रन्थ शिव और शिवा-शक्ति के संवाद रूप में ही पाये जाते हैं। यद्यपि शिव और शक्ति नाम एवं रूप से भिन्न प्रतीत होते हैं, किन्तु पारमाथिकदशा में दोनों का अभेद-अद्वैत स्वरूप माना गया है। पण्डितप्रवर कालिदास द्वारा प्रणीत 'रघुवंशमहाकाव्य' के प्रारम्भ में ही 'वागर्थविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये । जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमे-श्वरौ ॥' १-११। उक्त तत्त्वद्वय शब्द और अर्थ के समान परस्पर अनुस्यूत है। अत एव शैव और शाक्त अद्वैतवादी लोग प्रकाश शब्द को शिव और विमर्श पद को शक्ति का वाचक मानते हैं। शिवपुराण की वायवीयसंहिता में कहा है कि—

शब्दजातमशेषं तु धत्ते शर्वस्य वल्लभा ।

अर्थस्वरूपमखिलं धत्ते मुग्धेन्दुशेखरः ॥

अर्थात् भगवान् परमशिव की शक्ति समस्त शब्दों का और शिव समस्त अर्थों का स्वरूप धारण करते हैं। परा शक्ति परभैरव से अभिन्न है, परन्तु जब यह अनुग्रह व्यापार में प्रवृत्त होकर पश्यन्ती भूमिका में प्रवेश करती है, तब लोककल्याणार्थ स्वयमेव प्रश्नकर्ता के रूप में उपस्थित हो जाती है। अथवा परमशिव लोकहितार्थ स्वयमेव विमर्शरूप में परिवर्तित होकर अनुग्राह्य योग्यतानुसार पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी वाणी के माध्यम से प्रश्न करते हैं और प्रकाशस्वरूप में स्थित होकर उत्तर भी देते हैं। जैसा कि 'महास्वच्छन्दतन्त्रम्' में कहा है—

गुरुशिष्यपदे स्थित्वा स्वयं देव सदाशिवः ।

प्रश्नोत्तरपरैर्विक्रियैस्तन्त्रं समवतारयत् ॥

अर्थात् परमशिव ही शिव और शक्ति के स्वरूप में गुरु और शिष्य होकर प्रश्न और प्रतिवचन के रूप में तन्त्रशास्त्र की रचना करते हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ में 'श्रुतं देव' से लेकर 'छिन्धि संशयम्' पर्यन्त सप्तश्लोक में शक्ति जीवगत संशय करती है और शिव 'साधु साधु' से लेकर 'शिवःप्रिये' पर्यन्त चतुर्दश श्लोक में संक्षेप में उत्तर देते हैं, तदनन्तर 'देव देव' से लेकर 'ब्रूहि भैरवः' पर्यन्त भैरवी देवी शिव से परमतत्त्व की प्राप्ति का उपाय पूछती है और भगवान् शिव परमतत्त्व की प्राप्ति के लिये (साधक की कथानुसार रुचिकर लगे और संपादन कर सके इसलिये) एक सौ द्वादश योग की गहनसूक्ष्म धारणाओं का उपदेश देते हैं। इनकी फलश्रुति श्रवण कर 'इदं यदि वपुर्देव' इत्यादि श्लोकद्वय से देवी पुनः प्रश्न करती है और शिव उसका सम्यक् समाधान करते हैं। अन्त में श्लोकद्वय से देवी परिपूर्णतया संशय की निवृत्ति पा कर अत्यन्त आत्मविश्रान्तिरूप प्रसन्नता का वर्णन करती है। इस प्रकार प्रश्न-प्रतिवचनात्मक सम्पूर्ण ग्रन्थ का तात्पर्यार्थि वैखरी आदि परापर्यन्त वाणी के माध्यम से बोधस्वरूप परभैरव के साथ साधक की समावेश अवस्था की प्राप्ति में निहित है।

यह विज्ञानभैरव ग्रन्थ योगमार्ग की सूक्ष्म प्रक्रिया और सहज साधना का प्रतिपादक है और साथ-ही-साथ अद्वैत परमतत्त्व का भी पूर्णतया विवेचन करता है, किन्तु उस परमशिवभाव में पहुँचने के लिये साधक को सर्वप्रथम साधन प्रक्रिया का ज्ञान नितान्त अपेक्षित है। 'पातञ्जलयोग-सूत्रम्' और 'योगवाशिष्ठः' से दोनों ही ग्रन्थ सहजयोगमार्ग का विवेचन करते हुए परमतत्त्व का पूर्णरूप से प्रतिपादन करते हैं। 'योगवाशिष्ठः' वेदान्त का प्रतिपादक है। विज्ञानभैरव की समानता उसमें मिलती है—जैसे 'सम्बन्धे सावधानता' [वि० १०४] और योगवाशिष्ठ [नि० पू० ४३ ८] में भी यही विषय वर्णित है।

प्रस्तुत ग्रन्थरत्न में पूर्ववर्ती सभी तान्त्रिक योगविधियों का संग्रह है, किन्तु इसका विनियोग अनुपायप्रक्रिया-सहज-समाधि के विवेचन में है। उपक्रम, उपसंहार आदि षड्विध लिङ्ग-प्रमाण से ग्रन्थ के तात्पर्य का निर्णय किया जाता है। इसके उपक्रम में 'एवंविधे परे तत्त्वे कः पूज्यः कश्च तृप्यति' यह निर्देश कर सहज समाधि की ओर संकेत किया है। तदनन्तर एक सौ बारह योग-धारणाओं के प्रतिपादक प्रत्येक श्लोक के चतुर्थ चरण में भैरवात्मक अवस्था का वर्णन है, अन्त में जप, पूजा की पारमार्थिक व्याख्या है और ग्रन्थ का उपसंहार सहज समाधि में ही किया गया है। सहज समाधि का तात्पर्यार्थि यह है कि चित्तगत वृत्तियों की स्वाभाविक

प्रवृत्ति पर सहजयत्नपूर्वक नियन्त्रण स्थापित कर स्वस्वरूप का बोध हो जाय । तन्त्रशास्त्र और उससे अनुप्राणित योगशास्त्र ने जाति, वर्ण, सम्प्रदाय की सीमा का अतिक्रमण कर मानव मात्र को इसका अधिकारी दिखाया है किन्तु इसमें कुछ परिवर्तन आ जाने से दोष भी आ गया है । भारतीय मनीषियों ने इसको अपनाया था इसलिये उनका साम्राज्य सर्वतोमुखी और प्रतिष्ठागृहस्थ होकर रही । इसके साधन को समयानुसार न करने से साध्य सर्वथा दूर हो गया और परिवर्तन आ गया । ऋषिलोग गृहस्थ होते हुए भी एषणात्रय से रहित थे, किन्तु आज वैराग्य को धारण कर भी एषणाओं से विमुक्त रहना द्वितीया का वालचन्द्र हो गया है । इसलिये मनोगत वृत्तियाँ साध्य-साधन की ओर से घूम कर सांसारिकता की ओर प्रवाहित हो रही है । मनोवृत्तियों को सही दिशा में प्रवर्तित करने से पुनः मानव जाति का सारा पुरुषार्थ सम्पन्न हो जायेगा, इसमें कोई संशय नहीं है । बहुत सी अज्ञानप्रेरित कुरीति को छोड़ना होगा, जैसे स्वर्ग के लिये नाक कटाना यह कोई बुद्धिमत्ता नहीं है; अपितु अपनी और अपने ही लोगों की सब प्रकार से क्षति है । 'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्' एवं 'आत्मोपम्येन सर्वत्र समं पश्यति' इत्यादि स्मृतिवाक्यों के अनुसार अपने को ढालना होगा, तो हम साध्य से कहीं दूर नहीं हैं । वस्तुतः संकीर्णता में क्षति है । इससे देश, धर्म एवं जातीय विचारधाराओं में एकमय न रहकर प्राप्त सुख से भी वंचित हो जाते हैं, इसमें इतिहास साक्षी है ।

ग्रन्थ का स्वरूप—

प्रस्तुत ग्रन्थ में शिवोपाध्याय की व्याख्या १६३ श्लोक तक है और भट्ट आनन्द की कौमुदी नामक संस्कृत व्याख्या १६१ श्लोक तक है; किन्तु १६० श्लोक पर्यन्त मूल ग्रन्थ माना जाता है । यद्यपि शिवोपाध्याय की व्याख्या तो २४ श्लोक पर्यन्त है और २५ श्लोक से लेकर ग्रन्थ समाप्ति-पर्यन्त श्रीक्षेमराज कृत उद्योत व्याख्या है ।

व्याख्याकारों का काल एवं कृति—

कौशिक गोत्र में उत्पन्न सुन्दरकण्ठ के शिष्य शिवोपाध्याय की स्थिति अष्टादश शताब्दी में मानी जाती है । तत्कालीन कश्मीरनरेश सुखजीवन के शासनकाल में इस व्याख्या की पूर्णता हुई है । कश्मीर में जन्मे व्याख्याकार ने शैवाद्वैत सम्बन्धी व्याख्याएँ लिखी हैं । जैसे—परमार्थसारसंग्रहव्याख्या,

बह्मर्भरूपव्याख्या, उपनयनतन्त्रम्, विद्यामन्त्रप्रकरण, पञ्चायतनपद्धति, कूष्माण्डभाष्य, उचि, बाह्विधितन्त्रम् ।

क्षेमराज अभिनवगुप्तपादाचार्य के प्रमुख शिष्य हैं। इनका समय एकादश शताब्दी के आस-पास है। इन्होंने मौलिक ग्रन्थ की रचना कर अन्यो की भाँति कश्मीर शैवाद्वैत दर्शन की कीर्ति दिगन्त में फैलायी है। जैसे ग्रन्थ प्रत्यभिज्ञाहृदयम्, पराप्रवेशिका, बोधविलास, एवं व्याख्याएँ—शिवसूत्र-विमर्शिनी, स्पन्दसन्दोहः, स्पन्दनिर्णयः, स्तवचिन्तामणि-विवृति, विज्ञान-भैरव उद्योत, स्वच्छन्दतन्त्रम् उद्योत, नेत्रतन्त्रम् उद्योत, शिवस्तोत्रावली-व्याख्या, साम्बसञ्चाशिका-व्याख्या ।

भट्ट आनन्द कश्मीर प्रदेश के ही निवासी थे। इन्होंने व्याख्या के अन्त में ग्रन्थ समाप्ति काल का निर्देश किया है। कलि संवत् ४७७४ चैत्रमास की प्रतिपदा है। आज से ३१२ वर्ष पूर्व लगभग सप्तदश शताब्दी के अन्तिम काल में उनकी स्थिति मानी जाती है। इससे अतिरिक्त अधिक ज्ञान नहीं होता है।

प्रस्तुत संस्करण में टीकाद्वय का एक साथ ही समावेश किया है। कश्मीर-ग्रन्थावली में प्रसिद्ध टीकाएँ अनुपलब्ध थी और आगे-पीछे नहीं, अत एव पाठकगण के कर-कमलों में यह ग्रन्थ रखते हुए हम अत्यन्त प्रसन्नता का अनुभव कर रहे हैं।

कृष्णानन्दशास्त्र

ॐ श्रीसच्चिदानन्दाय नमः

अथ

विज्ञानभैरवः

श्रीक्षेमराजाचार्यविरचितविष्टुत्तिभागोत्तरं श्रीशिवोपाध्याय-
विरचितविष्टुत्युपेतः

भोरूणामभयप्रदो भवभयाक्रन्दस्य हेतुस्ततो
हृद्वाग्निं प्रथितश्च भोरवरुचामीशोऽन्तकस्यान्तकः ।
भोरं वायति यः स्वयोगिनिबहस्तस्य प्रभुभैरवो
विश्वस्मिन्भरणादिकृद्विजयते विज्ञानरूपः परः ॥१॥
स्वैरिस्वच्छस्फुरद्भाभिर्भासिताण्वाद्युपायतः ।
स्वोन्मेषाच्छाम्भवावेशं दर्शयन्तीं शिवां श्रये ॥२॥

श्रीमद्भट्टानन्दविरचितविज्ञानकौमुदीटीकोपेतः
श्रीविद्यां श्रीकण्ठमूर्तिं महेशं सोमानन्दं भूतिराजोत्पलेशौ ।
कालेनास्तंयातशैवागमानां प्रोद्धृत्यै ये मर्त्यलोकेऽवतीर्णाः ॥१॥
नामं नामं तत्पदाम्भोजरेणुं वाक्कायान्तर्वृत्तिभिर्नुत्तपङ्के ।
चित्तादर्शं मादृशा दृष्टतत्त्वावेशाः शोभन्तेऽनिशं सत्सदःसु ॥२॥
(युगलकम्)

आन्नायाद्यमृतैः सिञ्चन्त्यन्तेवासिमनोऽवनीः ।
जयत्यतुलतापच्छिद्रुर्गुरम्बुदावली ॥३॥

धीमन्दराचलवलत्परमागमाब्धे-
रुल्लास्यते किमपि यत्परमामृतं तत् ।
जीवच्छिवत्वमधिगन्तुममुत्र सद्भिः
संचर्यतामविरतं परशक्तिपूतैः ॥ ४ ॥

श्रीलक्ष्मणाभिनवगुप्तमुखांस्त्रिकार्थ-
तत्त्वानुशासनमहाम्बुधिशितरश्मीन् ।
ध्यात्वा गुरुञ्जडहृदब्जविकासनोद्य-
द्भास्वत्प्रभान्वितिमिरीकृतविश्वमार्गान् ॥ ३ ॥

शर्वाननाम्बुजविनिःसृतधारणानां
गूढायनेऽपरविभानवलोकनेन ।
संरच्यते प्रतिपदं स्खलतापि तावद्-
विज्ञानभैरवनये पददीपिकेयम् ॥ ४ ॥

(युगलकम्)

इह श्रीमान् चिद्भैरवः पूर्णाहंविमर्शात्मपरशक्तस्फुरत्ताभित्ता-
वन्तःकृतानन्तावान्तरसर्गादिप्रपञ्चपूर्वपूर्वदशानिमेषणवशोन्मिषदुत्तरो-
त्तरावस्थेच्छाज्ञानक्रियाशक्तिसारानाश्रितसदाशिवेश्वरपदावभासनस्व-
रूपो बीजभूतैतद्दशागोपनासतत्त्वग्राहकतच्छक्तितत्त्वपश्यन्त्यादिभूम्या-
भासपुरःसरमेयाभासान्तस्फुरणया जगद्वचवस्थामिव निमिषद्वैखर्यादि-
वशोन्मिषदीश्वरादिस्फुरणया अनुग्रहनिमज्जितमितमातृतच्छक्त्यु-
न्मज्जितरुद्रयामलसमावेशमुन्मीलयति-इत्यद्वयनयेषु पञ्चकृत्यकारितो-
च्यते भगवतः । तत्र पश्यन्त्यादिपदे द्योतनादिसतत्त्वा संविद्देवी
प्रबुध्यमानतया प्रष्ट्री स्वा परभैरवाभिज्ञा पराभूमिं सदा स्वाभासा-
मप्यन्तर्बाह्याक्षागोचरत्वात् परोक्षामिव, पश्यन्त्यादिकालापेक्षया तु
भूतामिव, तत्तद्गुह्यक्षेत्रज्ञतत्त्वप्राणांशांशिकापेक्ष्यकल्पावधिकदिनमासा-

न्याभावात् अद्यतनीमिव यावदावेष्टुमामृशति तावत् 'सुप्तोऽहं किल विललाप' इतिवत् अहमेव संविद्देवी पश्यन्त्यादिपदे प्रबुभुत्सुरस्फुट-
स्फुरितपराभट्टारिकैक्यचकासद्रहस्यमुवाचाममर्शं । एवं प्रबुद्धा सती
नैराकाङ्क्षयात् 'भिया सर्वं रवयति' इति निरुक्तभैरवरूपा अहमेवो-
वाचेति,

तदिह शास्त्रकृत्स्वयं भैरवः नीलपीतादिविचित्राभिरान्तरबाह्यस्वरूपाभिः
तत्तदर्थक्रियाभिः स्वात्मानमाच्छाद्य, ततश्च सूर्यमरीचिनिकरवत् बहिर्निःसृता
भक्तजना एतज्ज्ञानमार्गद्वारा स्वात्मस्वरूपोलब्ध्या पुनः प्रविशन्तु तदैक्यमुप-
यान्तु च, इति प्रयोजनमुद्दिश्य स्वविज्ञानस्फारज्ञान-क्रियादिशक्तिद्वारा
प्रष्टृरूपात्मना आह

श्री देव्युवाच ।

'श्रुतं देव'.....इत्यादेः ।

भैरव उवाच ।

इत्यादि

'साधु साधु' इत्यादिकमभ्यस्य 'सर्वत्रिशक्तिभेदानां हृदयं ज्ञात-
मद्य च' इत्यन्तस्य शास्त्रस्य परसंबन्धप्राणतैव । तदित्थं परसंबन्ध-
सतत्त्वं श्रीविज्ञानभैरवाभिधायि 'इत्युक्तवानन्दिता देवी कण्ठे लग्ना
शिवस्य तु' इत्यन्तेऽभिधास्यमानत्वात् विज्ञानभैरवावेशप्रयोजनत्वात्
तदभिधानमेवेदं शास्त्रम्, तन्त्रावतारकहृद्भूमिमश्नुवाना परा-
भट्टारिका उचितवचनरचनाक्रमेण वस्तुपूर्वकमुपक्षिपति ।

श्रुतं देव मया सर्वं रुद्रयामलसंभवम् ।

त्रिकभेदमशेषेण सारात्सारविभागशः ॥ १ ॥

अद्यापि न निवृत्तो मे संशयः परमेश्वर ।

हे देव विश्वावद्योतनक्रीडनादिसततत्र स्वात्मन्, समस्तरुद्रावि-
रुद्रतच्छक्तिसामरस्यात्मनो यामलात्

'अदृष्टविग्रहाच्छान्ताच्छिवात्परमकारणात् ।

ध्वनिरूपं चिनिष्कृतं शास्त्रं परमदुर्लभम् ॥'

इत्याम्नायोक्तेः संभवो यस्य तत्, अर्थात् शास्त्रं सर्वं त्रिकस्य परादि-

शक्तित्रयसारनर-शक्ति-शिवात्मनस्तत्त्वत्रयस्य भेदो ज्ञानक्रिया-
प्राधान्येतरादिप्रतिपादनेन भिद्यमानता यत्र, तदपि अशेषेण सामस्त्येन
श्रुतम् । कथं 'सारात्सारविभागशः'

‘वेदादिभ्यः परं शैवं शैवाद्वामं तु दक्षिणम् ।
दक्षिणात्परतः कौलं कौलात्परतरं त्रिकम् ॥’

इति स्थित्या तावत् त्रिकशास्त्रं सारम् । तत्रापि सिद्धा-मालिन्युत्तरादि
क्रमात्क्रमं ज्ञानप्रकर्षोपदेशोत्कर्षात् उत्कृष्टम्, अद्यापि च न मे संशयः
शान्त इति ॥ १३ ॥

तमेव च संशयमधिगतचरानेकशास्त्रार्थपर्यालोचनप्रवणया धिया
नवावान्तरग्रन्थिमुद्धटयति, किमिवात्र तत्त्वं स्यादित्याशयेन

तत्र यत्किञ्चित् यामलादिषु शिवशक्तिसंघट्टनात्महेतुषु शास्त्रेषु ब्रह्मविष्णु-
रुद्रभैरवाख्ययामलेषु तदाख्येषु आगमेषु यत्किञ्चित् भवन्मुखात् श्रुतं तदैक्योप-
पत्त्या श्रुतपूर्वमेवास्ति, दर्पणप्रतिविम्बितन्यायेन तदनतिरिक्तं तदतिरिक्तं वा
आन्तरतश्चैक्यतया बाह्यतश्च त्रिकभेदनरशक्तिशिवात्मकतया वा, इत्यनेना-
साधारणतया साधारणतया च श्रुतं श्रुतपूर्वमेवास्ति । इदानीमपि मम संदेहो
न निवर्तते । मम भैरवीस्वरूपेण मायादिशक्तिस्वरूपे तदाशयान्तया तत्स्वरूप-
तादात्म्यात् मम भैरवीति नाम गीयत इत्यर्थः । तस्या मम न संदेहनिवृत्तिः—
इदानीमपि न मम त्वदैक्योपपत्तिः संजातेति भावः । स्वात्मभित्तिसंलग्नत्वेन
तदुल्लासाद्विश्वकर्त्री, विश्वमयत्वेनैव सर्वत्र स्फुरणात्तद्विभ्रियमाणा वा, संसार-
भीरूणामभयप्रदत्वेन हितकर्त्री, भिया संसारत्रासेन रवतां जनितपरामर्श-
रूपाक्रन्दवतां हृद्भूमौ स्फुरन्ती वा इत्यादि निरुक्तनिर्दिष्टार्था ‘भैरवी’
इत्युच्यते । तदेतत्सर्वम्, प्रश्नोत्तरतत्त्वनिर्णयं, भैरवीभैरवयोः सामरस्यात्म-
संघट्टयामलस्वरूपप्रतिपादनं च नन्त्रालोकपरान्विशिकादौ वितत्य प्रोक्तं

किं रूपं तत्त्वतो देव ? शब्दराशिकलामयम् ॥ २ ॥

किं वा नवात्मभेदेन भैरवे भैरवाकृतौ ।

त्रिशिरोभेदभिन्नं वा किं वा शक्तित्रयात्मकम् ॥ ३ ॥

नादत्रिन्दुमयं वापि किं चन्द्रार्धनिरोधिकाः ।

चक्रारूढमनच्छं वा किं वा शक्तिस्वरूपकम् ॥ ४ ॥

भैरवाकृतौ संसारघट्टनस्वरूपे भैरवभट्टारके, तत्त्वदृष्ट्या शब्द-
राशेरादि-क्षान्तस्य याः कला अनुत्तरानन्देच्छादिविमर्शशक्तयः
क्रोडीकृताशेषवाच्यवाचकमयजगत्स्फाराः ताः प्रकृतं रूपं यस्य बोध-
भैरवस्य विमर्शशक्त्यात्मकत्वात् तत् किं ब्रूयात् रूपम् ? किं वा
प्रकृत्यादि-शिवान्तनवतत्त्वावमर्शयुक्त्या विमृष्टषडध्वनवात्ममन्त्र-
राजस्वभावतया रूपं स्यात् ? किं वा त्रिशिरोभेदे त्रिशिरस्तन्त्रे भिन्नं
क्रोडीकृताखिलनरादितत्त्वत्रयामर्शि निर्दिष्टविशिष्टमन्त्रात्मकम् ?
किं तदधिष्ठातृपरादिशक्तित्रयात्मकम् ? यदि वा सर्वमन्त्रचक्रसामान्य-
वीर्यात्मकविश्ववाच्याविभागप्रकाशरूपबिन्दुशेषवाचकाविभागपरा-
मर्शमयनादात्मकम् ? अथैतद्विन्दुनादप्रपञ्चरूपार्धचन्द्रनिरोधिकास्त-
त्त्वतो भैरवे रूपं स्यात् ? ।

तत्र सर्ववाच्याभिन्नप्रकाशात्मनो बिन्दोर्नादीभवतः किञ्चिद्वा-
च्यप्राधान्यशान्तावर्धचन्द्ररूपता, ततोऽपि वेद्यकौटिल्यविगमे स्पष्ट-
रेखात्मा निरोधिका, मितयोगिनां नादानुप्रवेशस्य, इतरेषां तु भेद-
दशावेशस्य निरोधात् तथाख्या, बहुवचनमत्राद्यर्थं नादान्तशक्ति-
व्यापिनीसमनाख्या नादोर्ध्वकला लक्षयति, तत्र नादस्यैव शब्दव्याप्तेः
शाम्यत्तायां सुसूक्ष्मध्वन्यात्मा नादान्तः, प्रशान्तौ तु ह्लादात्मस्पर्श-
व्याप्त्युन्मेषरूपा शक्तिः, सैव देहानवच्छेदाद् व्योमव्याप्त्यासादाद्
व्यापिनी, समस्तभावाभावात्मवेद्यप्रशान्तौ मननमात्रात्मककरणरूप-
बोधमात्रावेशे समना, इत्येतदर्थचन्द्रादिमन्त्रकलारहस्यम् । एवं
मातृकामन्त्रतद्वीर्यतत्त्वप्रमेयमुखेन विमृश्य ध्येयमहामन्त्रमुखेनापि
भगवद्रूपं विमृशति 'चक्रेति' जन्मादिचक्रेष्वाखण्डं लिपिष्यानेनैव
न्यस्तम्, अनच्चं ह-कलात्म नादमयं किं रूपं ?, यद्वा प्रशान्ताशेष-
कौटिल्यसुस्पष्टशक्तिस्वरूपं भैरवे किं रूपम् ? इति ॥ ४ ॥

इत्थं ध्येयमहामन्त्रतच्छक्तिमुखेनापि विमृश्य सर्वोत्तरानुत्तर-
पराशक्तिमुखेनापि विमृष्टुमाह

नास्माभिरिह वितन्यते रहस्यतस्करताप्रसङ्गात् । प्रकुतमनुसरामः—
तस्य चानुत्तररूपस्य किं रूपं तत्त्वतः सत्यतः, तदेव वदेति भावः । तत्र किं
शब्दराशिकलात्मकं शब्दब्रह्मात्मकं

‘शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति ।’

इति । अथ वा अकारादि-क्षकारान्तशब्दतया, अहमिति स्वरूपतया च वा, अक्ष इत्यात्मतया चेति, किं वा नवतत्त्वात्मतया नववामादिशक्तिस्वरूपतया च, भैरवे सच्चिदानन्दलक्षणपूर्णहिंभावस्वरूपभूते भैरवाकृतौ पञ्चकृत्यस्वभाव-भूते चित्तत्वे वा, नरशक्तिशिवात्मना त्रिशिरोभेदभिन्नं वा तत् तत्त्वं मातृ-मानमेयादिव्यापारत्रयात्मना वा, इच्छादिसक्तित्रयव्यापारात्मना च वा, नादविन्दुभयेन शिवशक्त्यात्मकशब्दप्रत्ययरूपज्ञानक्रियाशक्त्यात्मना वा, प्रणवाङ्गामाख्यार्घचन्द्रनिरोधात्मकव्यापारेण वा, षट्पत्रादिचक्रस्थितं किञ्चित्त्वं कुण्डलिन्याकृतिसार्धत्रिवलयस्फुरितं वा, अकारादिक्षकारान्तचक्रारूढ-स्वभावम् अहमिति स्फुरणं वा, अनच्चक्रम् अकारादिषोडशस्वरराहित्येन

परापरायाः सकलम् अपरायाश्च वा पुनः ।

पराया यदि तद्वत्स्यात् परत्वं तद्विरुध्यते ॥ ५ ॥

न हि वर्णविभेदेन देहभेदेन वा भवेत् ।

परत्वं निष्कलत्वेन सकलत्वे न तद्ववेत् ॥ ६ ॥

श्रीपरात्रिशकादौ मन्त्रविशेषध्येयविशेषात्मकं यत् पराभट्टा-रिकायाः सकलं रूपमुक्तं तत् परापरादेव्याः, यद्वा तस्या अपि परांशप्राधान्यात्तदनुपपत्तौ अपरादेव्याः एव भवतीति संभाव्यते । यदि तु पराभट्टारिकाया अपि तदिष्यते, तत् परत्वं नाममात्रेण स्यात् । वर्णविशेषेण सितादिना, अक्षररूपेण च, देहभेदेन आकृति-विशेषेण द्वादशान्तादिशारीरस्थानविशेषाश्रयेण न वा परत्वं प्रकृष्टत्वं भवति, अपि तु कलनाशून्यत्वेन, सकलत्वे तु तद्ववति इत्य-संभाव्यमेव ॥ ५-६ ॥

एवं समग्रागमार्थहृदयविमर्शिना विचारेणाभिमुखीकृतप्राय-तत्त्वार्था संविदेवी स्वां संपूर्णविज्ञानभैरवरूपतामाविविक्षुराह

ककारादिक्षकारान्तरूपं क् ख् ग् घ् ङ् इत्यादि स्वरूपं वा, अथ च ओं नमः श्रीविद्यापादुकाभ्यः, इत्येवं स्वरव्यञ्जनसंयुक्तं रूपम् उच्चारवर्जितं निष्कलं रूपम् 'अ उ म् न् अ मः श् र् ई व् इ द् य् आ प् आ द् उ क् आ भ् यः' इत्येवं रूपं वा तत् सर्वं वद, वा पराया वाचः स्वरूपं वा, अपराया वाचः स्वरूपं, वा परापराया वाचः स्वरूपमस्ति ? स्वातन्त्र्यशक्तिरेव हि परा, सैव क्रमं स्रष्टुमिच्छन्ती अपरा, सैव च क्रमरूपा सती परापरेति कथिता । तथा च तन्त्रालोके

‘स्वातन्त्र्यशक्तिः क्रमसंसिद्धिश्च क्रमात्मता चेति विभोर्विभूतिः ।
तदेव देवीत्रयमन्तरास्तामनुत्तरं मे प्रथयत्स्वरूपम् ॥’

इत्यादिना । इत्येवमपरायाः वा परापरायाश्च स्वरूपस्य तादात्म्यात्, पराया अपि यदि तद्वदेव स्यात् परत्वं तद्विरुध्येत । परापरापराभेदयोर्भेदोपपत्त्या तत्राभेदस्वभावात् तत् परत्वं परस्वरूपे विरुध्येतेति, तथा परापरापरा-स्वरूपयोर्हि सकलमेव वेद्यराशिपतितं विरुध्येत परायामिति भावः । अत्र परायां तदभेदोपपादनादिति विरुद्धमेतत्, न च ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्रादिभेदेन, न च देहभेदेन वा, न च सुरनरतिर्यगादीनां नानाशरीररचनया तत्परत्वं निष्कलत्वेन सकलत्वेन वा भवेत् ?—इत्येवं वाक्कायमनसामेकीभावनया मम प्रसादं कुरु प्रसाददृष्टिं ददस्व किमिदं किमिदमित्यादिभावनया सर्वं विहाय एककोटिस्पर्शनात् परोन्मुख्यत्यागात्, प्रमेयपरिहारात् वा, प्रमातृतत्त्वाहंभावनया वा यत्किञ्चित् प्रमातृतत्त्वं तदेवोपपादयेति भावः । यच्च मम हृदि संशयः ‘किमयं किमयम् किमिदं किं वा इदं किमन्यथा’ इत्यादि भेददशापन्ने निर्णयं वद—एकमेव यत् प्रमातृतत्त्वं स्वप्रकाशं तदेव मे दर्शय, येन दर्पणप्रतिबिम्बतन्मायेन स्वात्मनि सर्वस्यास्यानतिरिक्तता-प्रसङ्गात् अभेदोपपत्त्या अहमिति स्वरूपविश्रान्तेः सर्वमिदं मत्स्वरूपमिति निर्णयः स्यात् । प्रकर्षणासादनं प्रसादः भेदापसरणेनाभेदोपपत्त्या स्वात्मैक्यता-प्रतिपादययुक्तिं विरचयेति तात्पर्यम् ॥ १-६ ॥

तदेवं स्वाभिन्नस्वसंविद्धैरवीरूपेणानुयुक्तस्य तत्त्वविषयागमस्य, निर्णायक-पदस्थः स्वयं परमेश्वरः सिद्धान्तोपदेष्टा

भैरव उवाच ।

इत्यादिना, तत्र भैरवशब्दार्थस्तदभिन्नस्वरूपत्वेन निर्दिष्टभैरवीशब्दे प्राङ्निर्वाहितः, अथ च भैर्भीमादिभिरवति इति भैरवः, अहमिति स्फुरणात् इदन्ताया विनाशात् आशयानस्येव हिमघृतादेरिति भावः । उवाचेति स्वाभिन्नस्वरूपां संविच्छक्तिमभिमुखीकृत्य प्रतिशृणोति ।

प्रसादं कुरु मे नाथ निःशेषं छिन्धि संशयम् ।

मायामहामायाकालुष्यप्रशमनिर्मलीकृतं स्वं रूपं मम प्रकटय निःशेषमिममेकमेव नवपर्वणि संशयं शमय ॥

इत्थमामर्शनवशोन्मिषन्निराकाङ्क्षा स्वस्वभावोक्तरूपा देव्येव

प्राप्तभैरवभावा उक्तनीत्या उवाच, सर्वस्य चेदृश्येव प्रायः सर्वव्यवहा-
रेष्वपि स्वयं प्रश्नप्रतिवचनचतुरा संवित्, इह तु अनुत्तरार्थविषया
इति विशेषः । तदुक्तं श्रीस्वच्छन्दे

‘गुरुशिष्यपदे स्थित्वा स्वयं देवः सदाशिवः ।

पूर्वोत्तरपदैर्वाक्यैस्तन्त्रं समवतारयत् ॥’

इति यदुवाच तत् ‘साधु साधु’ इति स्वप्रतिभाश्लाघापूर्वं प्रस्तौति

हे देवि यत् त्वया पृष्टं तत् साधु साधु, परमेष्ठत्वात् पुनरुक्त्या साधु
साधु निर्देशः, यत् त्वया तन्त्राणां निश्चयानां सारं पृष्टं तत् त्वया गूहनीयं

साधु साधु त्वया पृष्टं तन्त्रसारमिदं प्रिय ॥ ७ ॥

गूहनीयतमं भद्रे तथापि कथयामि ते ।

हे प्रिये परानन्दतृप्तिप्रथापरे, अत एव भद्रे कल्याणिनि, यत् पृष्टं
त्वया सर्वशास्त्रसारभूतं वस्तु, तदतिरहस्यत्वात् गूहनीयतममपि ते
अनुत्तमपदसमावेशौन्मुख्येन योग्यायाः, कथयामि इति प्रतिजानीते ॥

तत्र हेयहापनपूर्वमुपादेयं हृदि प्ररोहयति

स्वात्मनि अभेदेन ध्यातव्यमिति भावः; न तु वाचा वैखर्यादिना, ततोऽपि
अहमपि वदामि नान्यथा । यच्च भैरवस्य द्वैविध्येन सकलं निष्कलं च रूपं

यत्किञ्चित्सकलं रूपं भैरवस्य प्रकीर्तितम् ॥ ८ ॥

तदसारतया देवि विज्ञेयं शक्रजालवत् ।

मायास्वप्नोपमं चैव गन्धर्वनगरभ्रमम् ॥ ९ ॥

ध्यानार्थं भ्रान्तबुद्धीनां क्रियाडम्बरवर्तिनाम् ।

केवलं वर्णितं पुंसां विकल्पनिहतात्मनाम् ॥ १० ॥

संप्रति तावदियती योग्यतैषामुत्पद्यतामिति, न तु तत्त्वबुभुत्सून्
प्रति एतदुक्तम् ॥ ८-१० ॥

यतः

प्रसिद्धमेतत्सकलं जगद्रूपं नीलानीलघटादिनानावैचित्र्येण तत् सर्वं गन्धर्व-
नगरवदिन्द्रजालतुल्यमिति शेषः—भुक्त्वा पीत्वा सुखमहमस्वाप्समित्यत्र

तत्त्वतो न नवात्मासौ शब्दराशिर्न भैरवः ।

न चासौ त्रिशिरा देवो न च शक्तित्रयात्मकः ॥ ११ ॥

नादबिन्दुमयो वापि न चन्द्रार्धनिरोधिकाः ।

न चक्रक्रमसंभिन्नो न च शक्तिस्वरूपकः ॥ १२ ॥

स्वात्मभैरव एव परमार्थतोऽकथ्योऽपि यः कांचित्कल्पनामाश्रित्य

‘स्वातन्त्र्यामुक्तमात्मानं स्वातन्त्र्यादद्वयात्मनः ।

प्रभुरीशादिसंकल्पैर्निर्माय व्यवहारयेत् ॥’

इति प्रत्यभिज्ञानिरूपितनीत्या उपदिदिक्षाविषयीकृतः स न प्रश्नित-
नवात्मशब्दराश्याद्यष्टकस्वरूपः ॥ ११-१२ ॥

किमर्थं तर्हि तत्र तत्र तथा तथोक्त इत्याशङ्कां कृन्तति

स्वप्नोपमदृष्टतुल्यं गन्धर्वनगरतुल्यं चेति—, तथा अप्रबुद्धमतीनां भ्रान्तमतीनां
कर्मप्रधानफलाभिसन्धिर्वर्तिनां स्थूलध्यानयोगार्थम् ‘अहं विष्णुं यजामि, अहं

अप्रबुद्धमतीनां हि एता बालविभीषिकाः ।

मातृमोदकवत्सर्वं प्रवृत्त्यर्थमुदाहृतम् ॥ १३ ॥

न प्रकर्षेण बुद्धा तीव्रशक्तिपातेन पूता तावन्मात्रोपासोन्मुखीभूता
मतिर्येषां, तेषामेता नवात्मादिरूपणाः क्रदभिनिवेशप्रशमाय बाल-
विभीषिका इव । यथा बालानामवस्त्वभिनिवेशो मिथ्याविभीषिका-
भिरपास्यते तथा सांसारिककर्मानुष्ठाननिरतानां विषयाग्रहग्रह एतै-
र्विभीषिकाप्रकारैः । किं च यथा माता मोदकदानेन बालं सत्कर्मणि
प्रवर्तयति तद्वत्सिद्धिसाधनप्रदर्शनेन भगवदाराधने जनः प्रवर्तयते
क्रमात्क्रममासादयितुं परभैरवभावमिति ॥ १३ ॥

यद्येतत् सकलं भैरवस्वरूपं तर्ह्युच्यतां निष्कलं तत्, यत् परा-
शक्तिविषयसंशयनिर्णोदनमपि भविष्यति इदं तदुच्यते

दिकालकलनोन्मुक्ता देशोद्देशाविशेषिणी ।

व्यपदेष्टुमशक्यासावकथ्या परमार्थतः ॥ १४ ॥

अन्तः स्वानुभवानन्दा विकल्पोन्मुक्तगोचरा ।

यावस्था भरिताकारा भैरवी भैरवात्मनः ॥ १५ ॥
तद्वपुस्तत्त्वतो ज्ञेयं विमलं विश्वपूरणम् ।

अन्तरिति पूर्णाहन्तायां, स्वानुभवः स्वप्रकाश आनन्द एव रूपं यस्यास्तादृशी, अत एवामूर्तित्वात् पूर्वपरदिक्कालकलनाशून्या, देशेन दूरासन्नादिना उद्देशेन च इदन्तानिर्देश्येन लक्षणीयेन रूपेण न विद्यते विशेषो यस्यास्तादृशी, अत एव व्यपदेश्टुमशक्या मध्यमाजल्पाविषया, अतश्चाभिधित्सागोचरत्वाभावादकथ्या वैखर्याप्यव्यावर्णनीया, परमार्थतो वास्तवेन रूपेण, कल्पनया त्वदूरविप्रकर्षेण उक्तनीत्या व्यपदेश्या कथ्या च, तदाह । यावस्थेति अवस्थातुर्भैरवरूपस्यात्मनो ममाव्यतिरिक्ता शक्तिरवस्था, भरितोऽशेषविश्वाभेदचमत्कारमय आकारः स्वरूपं यस्याः सा तादृशी, तदेव च तत्त्वतः परमार्थतो विमलं स्वभित्त्याभासितजगदनाच्छादितं, विश्वपूरणमशेषावभासकं वपुः स्वरूपं ज्ञेयं, न त्वन्यदाकृत्यादि ॥ १४-१५ ॥

एवं परस्वरूपं तत्त्वतो विमृश्य यदुक्तं क्रियाडम्बरेति तत् प्रमाणी-
करोति

गणपतिं यजामीति, स पुत्रं दास्यति मङ्गलम्' इति विकल्पनिहतात्मनां पुंसां वर्णितम् । तत्त्वतो न नवात्मासी-नवतत्त्वस्वरूपः, न वा वामादिनवशक्ति-

एवंविधे परे तत्त्वे कः पूज्यः कश्च तृप्यति ॥ १६ ॥

पूज्यपूजकपूजानां तर्पकादीनां च चिदानन्दैकघनपरमार्थत्वात् ॥ १६ ॥

तदित्थं पराभट्टारिकाविषयः संशयः प्रशान्त एवेत्याह

स्वरूपः, न चापि नरशक्तिशिवात्मा, न वा इच्छाज्ञानक्रियाशक्तित्रयात्मा च, न च शिवशक्तिस्वरूपः नादः शक्तिः विन्दुश्च शिव इति शब्दप्रत्ययरूपं ज्ञानक्रियात्मकं वा, न च अमाख्यार्धचन्द्रनिरोधात्मकं च प्रणवस्य, न च षट्-चक्रादिभेदगं, कुण्डलिन्यादिरूपेण वा-अकारादिक्षकारान्तवर्णचक्रग-अहमिति

एवंविधा भैरवस्य यावस्था परिगीयते ।

सा परा पररूपेण परादेवी प्रकीर्तिता ॥ १७ ॥

परिगीयते इति परिच्छेदार्थं गीयते, भेदेन परं व्यवह्रियते वस्तु-

तोऽस्या भैरवैक्यात्, सैषा प्रोक्तेन पररूपेण परा प्रकृष्टा सती परा-
देवीति, न तु नाममात्रेण निर्वस्तुकेनेत्याशयशेषः ॥ १७ ॥

ननु भैरवस्यावस्था स्वरूपमेव न तु कालादिकृता उक्तयुक्त्या
काचिद्दशास्ति, तद्भैरव एव भैरवीत्युक्तं भवति, ?-बाढं प्रतिज्ञात-
मित्याह

स्वरूपं, न वा कुण्डलिन्यादिशक्तिस्वरूपभाक्-परं तु मूढमतीनाम् एता
वाल्ग्विभीषिकाः अभिनिवेशादिप्रशमाय, वालो हि विभीषिकाभिलाल्यत
एव स्वमात्रा, अथ चौषधादिभक्षणार्थं स्वमात्रा मोदकं वा शर्करां दास्यामीति

शक्तिशक्तिमतोर्यद्वत् अभेदः सर्वदा स्थितः ।

अतस्तद्धर्मधर्मित्वात् परा शक्तिः परात्मनः ॥ १८ ॥

शकनं शक्तिः सामर्थ्यं विश्वनिर्माणादिकारिभैरवस्वरूपमेव ।
तदिति तस्य शक्तिमतः संबन्धिना सर्वज्ञता-सर्वकर्तृता-सर्वात्मतादिना
धर्मेण धर्मिणी शक्तिः परस्य चिदानन्दैकधनस्यात्मनः ॥ १८ ॥

एतत् दृष्टान्तप्रमुखं घटयति

लाल्यते । एवं सा परावस्था दिक्षु, कालेषु भूतादिषु, कलनातीता या आसीत्
सास्ति, भविष्यति चेति द्वारासन्नादिनानात्वेन अविशेषिणी, उपदेष्टुमशक्यापि
तव उपदिशामीति शेषः । पूर्णाहन्ता स्वप्रकाशैकस्वरूपा निर्विकल्पपरमार्था

न बह्वेर्दाहिका शक्तिः व्यतिरिक्ता विभाव्यते ।

केवलं ज्ञानसत्तायां प्रारम्भोऽयं प्रवेशने ॥ १९ ॥

न विभाव्यते विचार्यापि नोपलभ्यते, ज्ञानसत्तायां बलं जिज्ञासो-
र्बलं ज्ञप्तौ यत्प्रवेशनं प्रवेशना तत्र, अयमिति दाहोपलब्धिवशपरि-
च्छिन्नदाहशक्त्यात्मा बल्लिस्वभावः प्रारम्भः, तन्मुखेन पाचकत्वाद्य-
नन्तशक्त्यात्मशक्तिमत्स्वरूपपरिगतेः, उक्तं च प्रत्यभिज्ञायाम्

‘फलभेदादारोपितभेदः पदार्थात्मा शक्तिः’

इति ॥ १९ ॥

• दार्ष्टान्तिकयोजनयाह

च पूर्णस्वरूपस्य भैरवस्य यां भरिताकारावस्था ब्रह्ममिति विश्रान्तिमयी तदेव भैरवं वपुर्विज्ञेयमिति भावः । एवमस्मिन् भैरवे तत्त्वे कः पूज्यः को वा तृप्तः वा तृप्यति । एवमनेन रूपेण परावस्था भैरवस्य प्रकीर्तिता । यतश्चानयोः

शक्त्यवस्थाप्रविष्टस्य निर्विभागेन भावना ।

तदासौ शिवरूपी स्यात् शैवी मुखमिहोच्यते ॥ २० ॥

पराशक्तिरूपामवस्थां यदा प्रविशति वक्ष्यमाणोपायैः समाविशति उपदेशोऽणुः, तदास्य निर्विभागेन भावना भवति-शक्तेः शिवाभेदात्, तदा स लब्धशक्तबलः प्रशस्ततमशिवस्वरूपो भवत्येव, यतः शिवस्येयं शैवी शक्तिः, मुखं प्रवेशोपायद्वारमिहागमेषूच्यते ॥ २० ॥

एतत् स्फुटदृष्टान्ताभ्यां हृदयङ्गमीकरोति

शक्तिशक्तिमतोरभेदस्तस्मात् इयं परा शक्तिरिति कथ्यते । अत्र च दृष्टान्तोऽपि-यथा वल्लेर्दाहिका शक्तिर्न भिन्ना तथेयं शक्तिरपि परा, इति एतन्मुखेन भैरवसामुख्यं स्यादिति भावः । पुनरपि च दृष्टान्तोऽत्र-यथा हि वक्त्रेणैव

यथालोकेन दीपस्य किरणैर्भास्करस्य च ।

ज्ञायते दिग्विभागादि तद्वच्छक्त्या शिवः त्रिये ॥ २१ ॥

यथा आलोकेन प्रकाशेन दीपस्य शिखात्मनो, भास्करस्य च मरीचिभिरेवात्मीयैर्दिग्विभागसंनिवेशादि ज्ञायते, न तु अन्येन दीपादिना, तद्वत् स्फुरत्तारूपया स्वशक्त्यैव शिवः स्वात्मा ज्ञायते प्रत्यभिज्ञायते समाविश्यते इत्यर्थः ॥ २१ ॥

एवं परास्वरूपे निर्णीति तदुपलब्ध्युपायजिज्ञासया श्रीदेव्युवाच

अयमिति लभ्यते तथा शक्त्यैव शिवोऽयमिति व्यपदेशः । अपरोऽपि च दृष्टान्तः, यथा दीपप्रकाशेन वा सूर्यालोकेन च दिग्विभागादि ज्ञायत एव, एवं शक्त्या शिवावभासनमिति सिद्धम् ॥ ७-२१ ॥

देवदेव त्रिशूलाङ्क ? कपालकृतभूषण ? ।

दिग्देशकालशून्या च व्यपदेशविवर्जिता ॥ २२ ॥

यावस्था भरिताकारा भैरवस्योपलभ्यते ।

कैरुपायैर्मुखं तस्य परादेवी कथं भवेत् ॥ २३ ॥
यथा सम्यगहं वेद्मि तथा मे ब्रूहि भैरव ।

देवानां ब्रह्माद्यनाश्रितान्तानां द्योतनादिसतत्त्वरूपरूपाणां च देव स्वामिन् ?, स्वातंत्र्यशक्तिस्फारितेच्छाद्यरात्रयात्मकत्रिशूलाङ्क ?, समस्तवाच्यवाचकात्मकजगत्खण्डरूपकपालैश्चैतन्यस्वातन्त्र्यभिव्यञ्जकत्वात् कृतभूषण भ्राजमानानाच्छादितस्वरूप ?, दिगित्यादिना भैरवस्येत्यन्तेन प्राग्विभक्तपराशक्तिस्वरूपमनूद्य तदनुप्रवेशप्रकाशना-याह—उपलभ्यत इत्यादि, उपायैरिति बहुवचनमुपलब्धुरणोः प्राण-देहबुद्धिशून्याश्रयोच्चार-करण-ध्यान-वर्णस्थानकल्पनाभेदात्, सार्व-त्म्यभावनादिशुद्धविकल्पनानात्वात्, अविकल्पोपायवैचित्र्याच्च आणव-शाक्त-शाम्भवोपायनानात्वं वक्ष्यमाणं कटाक्षयति, मुखं तस्येति शैवी मुखमिह, इति यच्छक्तेर्मुखत्वमुक्तं तन्निर्णीतनीत्या भगवदेका-त्मनः तस्याः शक्तेः कथमित्येतदुभयप्रश्नितं 'यथा अहं वेद्मि तथा भैरव ब्रूहि'—मामामर्शयेति यावत् ॥ २२-२३ ॥

इत उत्तरं श्रीशिवोपाध्यायकृता विवृतिः ।

एवं प्रश्नवस्तुनिर्णयाय क्रमेण भूमिकाज्ञानानि प्रकाशयति श्रीभैरव उवाच

इच्छाज्ञानक्रियात्मकशक्तित्रय-भरितस्वरूपसत्तया उपलक्षित ?, विश्वस्य च संहारेण स्वात्मनि तत्स्थित्या अस्थिशेषतया विश्वस्य धारणं कपालपाणित्वं सिद्धमीश्वरस्य । दिक्षु दशसु, देशे, काले भूतादी, शून्या तदविभागा परेति नाम्ना लक्ष्यते, तन्मुखं तद्दर्शनं च केनोपायेन भवेदिति शेषः । यथा चाहं त्वत्स्वरूपतया भवामि त्वदभेदोपपत्तेः, तथैव मे ब्रूहि—तत्रैव प्रवेशय इति भावः ॥

ऊर्ध्वे प्राणो ह्यधो जीवो विसर्गात्मा प्रोचरेत् ।

उत्पत्तिद्वितयस्थाने भरणाद्भरिता स्थितिः ॥ २४ ॥

योऽयमूर्ध्व इति हृदो द्वादशान्तं यावत् वहन् प्राणः, यश्चाधो जीवो द्वादशान्तात् हृदन्तमपानः, एषा परादेवी उच्चरेत्, सततं स्वयमुच्चरन्ती स्थिता, कीदृशी विसर्गोऽन्तर्बहिर्भाविकरणरूपो विमर्श

आत्मा यस्याः सा अप्राणाद्यशाक्तस्पन्दोन्मेषा,—तदाच्छुरणेन विना
नियतप्राणप्रवाहायोगात् । तदुक्तं श्रीस्वच्छन्दे

‘प्राणः प्राणमयः प्राणो विसर्गापूरणं प्रति ।’

इति । यत एवमत उत्पत्तिद्वितयस्य बाह्याभ्यन्तरोत्पादद्वयस्य यत्
स्थानं हृत् द्वादशान्तश्च, तत्र भरणादिति नित्योन्मिषदाद्यस्फुरत्तात्म-
भैरवीयशक्त्युपलक्षणाद् भरिता स्थितिः भैरवताभिव्यक्तिर्भवतीति
यावत् ।

अथ च ऊर्ध्वं इति सर्वेन्द्रियप्रसरेषु प्राणो विषयानुप्राणकः सूक्ष्म-
प्राणप्रवाहः, यश्चाधो जीवः स्वीकृतसर्वविषयो विशन्नपानः स एवोक्त-
युक्त्या परा उच्चरेत्—सततं चकास्ति, ततो ग्राह्योत्पत्तिस्थाने हृदि
ग्राहकोत्पत्तिस्थाने च मेयसंघट्टपदे । भरणादिति प्राग्वत् ।

किं च, ऊर्ध्वं इति प्राणापानोन्मेषपदे प्राणोऽशेषवाचकानुप्राण-
कोऽकारः, अध इति अन्ते जीवः सकार इत्यादि सान्तो मातृकागतो
वर्णपुञ्जः, सैषा विसर्गात्मा प्रान्तर्दशितहकारकलात्मना नादरूपा
परा उच्चरेत्—मातृकाचक्रक्रमेणाशेषवाच्यवाचकान्तं जगदुत्लङ्घ्य
गच्छति,—स्वौजसा भेदपदमभिभूय स्फुरतीति यावत्, अतश्च उत्पत्ति-
द्वितयस्थाने अकार-हकारौ विमृश्य शिवशक्तिसंघट्टः । हृदि द्वादशान्ते
चेति प्राग्वत् ।

अपि च, ऊर्ध्वं इति उत्कृष्टतया प्राणो विश्वानुप्राणक इच्छाज्ञान-
क्रियाप्रसरः अध इति इदन्ताविमृश्यतया निकृष्ट ईषणीयज्ञेयकार्यात्मा
जीवः, सोमरूपतया संसारिणां जीवितस्थितिहेतुः, सैषा भगवती परा
शक्तित्रयात्मना परापरेणापरेण च रूपेणोच्चरेत्—उत्कृष्टतयैव चरन्ती
विश्वाभेदस्फुरत्तया प्रसरन्ती सदा स्थितेति कृत्वा उत्पत्तौ मेयपदे,
द्वितयशब्दवाच्ये प्रकाश्यप्रकाशकसंघट्टरूपे प्रमाणपदे, स्थान इति
तदुभयविश्रान्तिधाम्नि प्रमातृपदे, भरणात् ‘त्रिषु चतुर्थं तैलवदा-
सेच्यम्’ [शि० सू० ३-२०] इति दृष्ट्या पराभट्टारिकात्मतुर्या-
नन्दाप्लावनात् भरिता स्थितिः ।

अन्यच्च, ऊर्ध्वं इति मायान्ताध्वोपरि प्राणोऽनुप्राणकं शुद्धाशुद्धा-
ध्वव्यापि शिवशक्तितत्त्वं, तस्यैव चाधो जीवः स्वीकृतमायादितत्त्वं-
‘ग्रामं’ नरशब्दवाच्यमात्मतत्त्वं यावत्, सैषेत्यं परा उच्चरेत्—शैवी

स्वातन्त्र्यशक्तिरेवेत्थं जृम्भते । तेन उत्पत्तिद्वितयस्थाने उत्पाद्यमान
शुद्धाशुद्धाध्वद्वये भरणान् पराशक्तिव्याप्त्या सर्वसर्वमयत्वभावनया
तत्सामरस्यापादनाद्भूरिता स्थितिः । अत्र व्याख्याने श्रीपरोक्तमन्त्र-
व्याप्तिरनुसर्तव्या ।

अपरम्, ऊर्ध्वं प्राणोऽनुत्तराकुलात्मनश्चिद्धात्मनः स्वयमुन्मिषन्
हकारः, अधो जीवः सकारो विसर्गात्मा विसर्जनीयानुप्राणितो यः,
सैषा हानसमादानहंसीरूपा परैव उच्चरति, अत एव 'अहंसः' इति
स्वात्मप्रत्यभिज्ञानविमर्श इवात्रोपलभ्यते । यत एवमतः उत्पत्ति-
द्वितयस्थाने हकारसकारोदयहृद्द्वादशान्तस्थानयोर्भरणात् तद्वर्ण-
विमर्शपरिशीलनयुक्तितः शक्तिबलासादनाद्भैरवीभावो भवति ।
एवमत्र प्रथमद्वितीययोर्व्याख्यानयोरविकल्पस्वरूपपरिशीलनात्मा
शाम्भवावेश उपक्षिप्तः । चतुर्थपञ्चमयोः सर्वाहंभावभावनात्मकशुद्ध-
विकल्पावमर्शरूपः शाक्तः । तृतीयषष्ठयोर्वर्णविशेषावमर्शप्रधान
आणवः । यदुक्तं मालिनीविजये

अकिञ्चिच्चिन्तकस्यैव गुरुणा प्रतिबोधतः ।
उत्पद्यते य आवेशः शाम्भवोऽसावुदाहृतः ॥
उच्चाररहितं वस्तु चेतसैव विचिन्तयन् ।
यं समावेशमाप्नोति शाक्तः सोऽत्राभिधीयते ॥
उच्चारकरणध्यानवर्णस्थानप्रकल्पनैः ।
यो भवेत्स समावेशः सम्यगाणव उच्यते ॥'

शाम्भवसमावेशस्यार्थो यथा—

‘अकिञ्चिच्चिन्तकस्येति विकल्पानुपयोगिता ।
तया च झटिति ज्ञेयसमापत्तिर्निरूप्यते ॥
सा कथं भवतीत्याह गुरुणातिगरीयसा ।
ज्ञेयाभिमुखबोधेन दाक्प्ररूढत्वशालिना ॥
तृतीयार्थे तसि व्याख्या वा वैयधिकरण्यतः ।
आवेशश्चास्वतन्त्रस्य स्वतद्रूपनिमज्जनम् ॥
परतद्रूपता शम्भोराद्याच्छक्त्यविभागिनः ।
तेनायमत्र वाक्यार्थो विज्ञेयः प्रोन्मिषत्स्वयम् ॥
मातारमधरीकुर्वत् स्वां विभूतिं प्रदर्शयत् ।

आस्ते हृदयनैर्मल्यातिशये तारतम्यतः ॥
 क्षेयं द्विधा च चिन्मात्रं जडं चाद्यं च कल्पितम् ।
 इतरत्तु तथा सत्यं तद्विभागोऽयमीदृशः ॥
 जडेन यः समावेशः स प्रतिच्छन्दकाकृतिः ।
 चैतन्येन समावेशस्तादात्म्यं नापरं किल ॥
 तेनाविकल्पा संवित्तिर्भावनाद्यनपेक्षिणी ।
 शिवतादात्म्यमापन्ना समावेशोऽत्र शाम्भवः ॥
 अविकल्पपथारूढो येन येन पथा विशेत् ।
 धरासदाशिवान्तेन तेन तेन शिवीभवेत् ॥
 निर्मलै हृदये प्राग्रस्फुरद्भूम्यंशभासिनि ।
 प्रकाशे तन्मुखेनैव संवित्परशिवात्मता ॥
 एवं परेच्छाशक्त्यंशसदुपायमिमं विना ।
 शाम्भवाख्यं समावेशमन्यन्त निरासिनः ॥'

इति ॥ २४ ॥

अधुना स्वतः सिद्धाः पूरककुम्भकरेचकाः प्राणस्यावस्थाविशेषाः
 सर्वेषां सकल-प्रलयाकलादीनां प्रमातृणामयत्नेन यथा

‘बाह्योन्मुखत्वं प्राणानां यद्बुद्धमभोजकोटरात् ।
 स्वैरमेवात्तयज्ञानां तं धीरा रेचकं विदुः ॥
 द्वादशाङ्गुलपर्यन्तं बाह्यमाक्रमतां हृदः ।
 प्राणानामङ्गसंस्पर्शो यः स पूरक उच्यते ॥
 अपानैऽस्तङ्गते प्राणो यावन्नाभ्युदितो हृदि ।
 तावत्सा कुम्भकावस्था योगिभिर्यानुभूयते ॥’

इत्यादिना प्राणापानदशायामेवारोहावरोहक्रमे तच्चिन्तावहितैर्योगि-
 मिर्भूयते इति यद्योगशास्त्रेषु प्रतिपादितं तद्विषयावधानमुपदिशति

ऊर्ध्वं द्वादशान्ते, प्राणः प्राणरूपः जीवनाख्यः चित्तवृत्तिविशेषः
 संस्थाप्यः, अधश्च-हृदि हृदयस्थाने, जीवोऽपानः-जीव्यतेऽनेन इति जीवः
 भक्षणपानादेरधोमार्गप्रसरणान् जीव इति उच्यते तदुपाधिवान् अत एव जीव
 इति, विसर्गिन्मा अन्तर्बहिर्भावकरणरूप आत्मा यस्य तेनापि परैव उच्चार-
 मायाति अहमिति अन्तश्चक्रारूढा, एतयोर्द्वयोर्विभेदापत्त्या अहमिति प्रकाशनात्-
 उत्पत्तौ द्वादशान्ते द्वितीये हृदि च धारणात् । तत्र स्थित्या भरितस्थितिः

स्यादेव इति सर्वोपाधिविस्मरणात् अहमिति विमर्शवान् स्यात् इति संबन्धः ।
इति प्रथमा धारणा ॥ २४ ॥

अथ द्वितीयामाह—

मरुतोऽन्तर्बहिर्वापि वियद्युग्मानिवर्तनात् ।
भैरव्या भैरवस्येत्थं भैरवि व्यज्यते वपुः ॥ २५ ॥

मरुतः प्राणस्यापानस्य चान्तर्बहिश्च यद्वियद्युग्मम्—हृदाकाशो
द्वादशान्तश्च यद्वियद्द्वयम्, ततोऽनिवर्तनात् प्रत्यावर्तनाभावेन क्षण-
मात्रमन्तर्मुखत्वेनावस्थानात् प्राणापानयोर्द्वयोरस्तंगतत्वात् भैरवीस्त्र-
रूपस्य भैरवस्य वपुः ‘अन्तः स्वानुभवानन्दा’ इत्यारभ्य ‘तद्वपुस्तत्त्वतो
ज्ञेय विमलं विश्वपुरणम्’ इति कृतलक्षणं धर्मिधर्मात्मकत्वेन शिव-
शक्तिद्वैधं प्रकाशविमर्शस्वरूपं परमार्थत एकमेव तत्त्वं प्रकटीभवेत्,
एतदुक्तं भवति—हृदि स्थितात्पद्मयन्त्रात् प्राणस्योदयः, बहिर्द्वादशा
ङ्गुलपर्यन्ते आकाशे प्राणस्यास्तं गतिः । एवं बाह्याद्द्वादशान्ता
दपानोदयः, हृत्पद्मयन्त्रे त्वपानस्यास्तम् । एवमनवरतम्—

‘बाह्यानाभ्यन्तरांश्चैतान्कुम्भकाशीननारतम् ।

प्राणापानस्वभावान् स्वान्बुद्ध्वा भूयोन जायते ॥

गच्छतस्तिष्ठतो वापि जाग्रतः स्वपतोऽपि वा ।

एतेन रोधमायान्ति प्रकृत्या हि चलोऽनिलः ॥

इत्याद्युक्तनीत्या सर्वेषां प्रमातृणां पशुपक्षिमृगादीनां च सर्वदा सर्वत्र
रात्रिन्दिवमष्टौ प्राणायामाः स्वतः सिद्धाः पुरुषप्रयत्नानपेक्षाः । ते च

‘स्वस्वभावतया बुद्ध्वा यदि स्युस्तर्हि मोक्षदाः ।

यत्करोति यदश्नाति बोधेनैताननुस्मरन् ।

कुम्भकादीन्नरः सोऽन्तस्तत्र कर्ता न किञ्चन ॥’

इत्युक्तेः । ते च यथा—हृत्कमलाद्वहिर्मुखत्वं स्वेच्छयैव यत् प्राणस्य
सा प्राणरेचकावस्था १ । हृदयात् सकाशाद्वहिर्द्वादशाङ्गुलपर्यन्तं
निःसरतां प्राणानामङ्गसंस्पर्शः पूरकः २ । बहिःप्रदेशात् पुरुषप्रयत्नं
विनैवापाने प्रत्यावृत्ते सति योऽङ्गप्रपूरणस्पर्शः सोऽपि पूरकः ३ ।
अपाने प्रलीने सति हृदयात् प्राणोऽपि यावन्नाभ्युदितस्तावत्कालं
कुम्भकावस्था ४ । अस्यामवस्थायां योगिनामेवानुभव इति प्राणवायुः

सदा देहाद्वहिरन्तश्च प्राणायामपरः । एवमपानोऽप्यनिशं बहिरन्तश्चा-
 पानायामवान्, यथा बहिराकाशेऽस्तंगते प्राणे यावन्नोद्गतोऽपानो
 भवेत् तावत्कालं बहिः पूरकावस्था अपानस्य १ । तथा अपानस्य
 द्वादशान्तादुत्थाय यद्रूपपीनत्वं सोऽपि बहिः पूरकः २ । तथा बहिर्द्वाद-
 शाङ्गुलपर्यन्तप्रदेशेऽपानस्य मृदन्तरस्थानिष्पन्नघटवद्वा स्थितिः सा
 कुम्भकामवस्था अपानस्य ३ । उदयं विना यदपानस्यान्तर्मुखत्वं स
 बाह्यरेचकः ४ इति प्राणपूरकापानपूरकद्वैध्येऽष्टौ प्राणायामाः ।
 एतान् स्वस्वभावत्वेन जानीयात् । हृत्कण्ठतालुललाटरन्ध्रद्वादशान्ताः
 प्राणगतिविषयाः । हृत्कन्दाननसंकोचविकासद्वादशान्ता अपानगति-
 विषयाः । क्षणमस्तङ्गतप्राणमपानोदयरहितमयत्नसिद्धं यद्बाह्यस्थं
 कुम्भकं, तथा क्षणमस्तङ्गतापानं प्राणोदयरहितमयत्नसिद्धमन्तः-
 स्थकुम्भकं यत्, तदेव परमं पदं मध्यरूपत्वात् । एतदेव मध्यवासिष्ठे
 ब्रह्मदर्शने भुसुण्डोपाख्याने—

‘एतत्तदात्मनो रूपं शुद्धैषा सा परैव चित् ।
 एतत्तत्सततामासमेतत् प्राप्य न शोचते ॥
 अस्तं गतवति प्राणे त्वपानेऽभ्युदयोन्मुखे ।
 बहिःकुम्भकमालम्ब्य चिरं भूयो न शोचति ॥
 अपानेऽस्तं गते प्राणे किञ्चिदभ्युदयोन्मुखे ।
 अन्तःकुम्भकमालम्ब्य चिरं भूयो न शोचति ॥’

इत्यादिना योगिगम्यप्राणापानमध्यदशाविश्रान्त्या द्वयोरनिवर्तनात्
 प्रत्यावृत्त्यभावेन तत्तुटि-लव-क्षणमात्रमन्तर्मुखत्वात् मध्यदशा-
 विर्भावः ॥ २५ ॥

प्राणापानरूपस्य मरुतोऽन्तर्बहिर्विद्यद्युग्मे द्वादशान्ते हृदये चानुवर्तनात्—
 अनुन्मेषनिमेषणात् । हे भैरवि ?, भैरवस्य परमात्मनः वपुः शरीरं स्वरूपं
 व्यज्यते प्रकाशत एव ॥ २५ ॥

मध्यविकासेन प्राणापानयोः प्रवेशनिर्गमाभावमाह—

तृतीयां धारणामाह—

न व्रजेन्न विशेच्छक्तिर्मरुद्रूपा विकासिते ।

निर्विकल्पतया मध्ये तथा भैरवरूपता ॥ २६ ॥

मरुद्रूपा शक्तिर्न ब्रजेत्—हृदो द्वादशान्तं न यायात्, न च विशेत्—
द्वादशान्तात् हृदयं न गच्छेत्, केवलं मध्ये मध्यनाडीधाम्नि विकल्प-
हान्युपायतो विकासिते सति । अत्रायं भावः—दर्शनादीनां सर्वशक्तीनां
समूहं स्वे स्वे विषये युगपद्भावेन प्रक्षिप्य स्वं स्वभावं स्पन्दतत्त्वात्मकं
तदाधारमवलोक्य निर्विकल्पतया निमीलनोन्मीलनसमाधितायु-
गपद्व्यापकमध्यभूम्यवष्टम्भादध्यासितैतदुभयविसर्गारणिविगलित-
संकल्पभावाक्रमविस्फारितकरणचक्रतया—

‘अन्तर्लक्ष्यो बहिर्दृष्टिर्निमेषोन्मेषवर्जिता ।

एषा वै भैरवी मुद्रा सद्यस्तत्पददायिनी ॥’

इति भैरवी मुद्रानुप्रविष्टत्वे जाते सति मरुद्रूपा शक्तिर्न बहिः प्रसरेत्,
नान्तः प्रविशेत्, एवंविधया तया भैरवरूपता भवेत्, तया प्रशमित-
प्राणापानभावाभिव्यक्तभैरवीयरूपतया भैरवरूपधारी योगी भवति,
एतत् श्लोकद्वयं मध्यमधामाश्रया आणवी भूमिः ॥ २६ ॥

हृदि यः प्राणः स तु न ब्रजेत्, तत्स्थानात् नापि विशेत्, यत्रैवास्ति
निर्विकल्परूपस्तत्रैवास्तु अस्पन्दात्मा । एवमेव द्वादशान्तेऽपि स्पन्दास्पन्द-
राहित्येन निर्विकल्पसमाधौ तन्मध्ये भैरवरूपाभिव्यक्तिः ॥ २६ ॥

चतुर्थी धारणां निरूपयति—

कुम्भिता रेचिता वापि पूरिता वा यदा भवेत् ।

तदन्ते शान्तनामासौ शक्त्या शान्तः प्रकाशते ॥ २७ ॥

रेचिता सती कुम्भिता, बहिः पूरिता वा कुम्भिता अन्तर्यदा
मरुद्रूपा शक्तिर्भवति, तदा तदन्ते यदेति अभ्यासात् प्रशान्तकुम्भ-
कावस्थोदये भेदोपशमात् शान्ताख्या असौ शक्तिः, शान्तः परम-
स्वभावः नामरूपातीतः प्रकाशतेऽभिव्यक्तप्रथो भवति ॥ २७ ॥

शास्त्रमार्गानुसारेण कुम्भकं रेचकं वा पूरकं विधाय तत्तदभ्यासपरि-
शीलनेन च चक्रभ्रमिवत् शान्तवेगानुभवेन प्रकाशमात्रावस्थोदये परापरस्वभावः
प्रकाशत एव । तथा च तिष्ठति संस्कारवशात् चक्रभ्रमिरिव धृतशरीर
इत्यन्तेन प्रकाशः प्रकाशत एव । प्रत्यभिज्ञायां चैतत्प्रपञ्चितम्—

‘इहमित्यस्य विच्छिन्नविमर्शस्य कृतार्थता ।
या स्वस्वरूपे विभ्रान्तिर्विमर्शः सोऽहमित्ययम् ॥’

इत्यादिना ॥ २७ ॥

इदानीं पञ्चमीमाह—

आ मूलात्किरणाभासां सूक्ष्मात् सूक्ष्मतरात्मिकाम् ।

चिन्तयेत्तां द्विषट्कान्ते शाम्यन्तीं भैरवोदयः ॥ २८ ॥

आ मूलात्—आ जन्माधारात् द्वादशान्तं यावत्, किरणाभासां मरीचिरूपां क्रमात्क्रमं तनुतामाश्रयन्तीं तां मरुच्छन्तिं चिन्तयेत् ध्यायेत्, कीदृशीं द्विषट्कान्ते द्वादशान्ते शाम्यन्तीम्, इत्थं सुसूक्ष्मतमस्यापि ध्येयाकारस्य ध्यानप्रकर्षोत्थापितस्यागलनाद्भैरवस्वरूपता भवति ॥ २८ ॥

आ मूलात् हृदयात् किरणभसिमानां चन्द्रार्कविम्बवत् भासनस्वभावां क्रमात् क्रमं तनुतां श्रयन्तीं च, अत एव च सूक्ष्मात् सूक्ष्मतरां नामरूपातीतां, द्विषट्कान्ते द्वादशान्ते संचिन्त्य सुसूक्ष्मतमस्यापि ध्येयाकारस्य गलनात् भैरवरूपो भवेदिति शेषः, तां च शाम्यन्तीं सतीं संत्यज्येति भावः ॥ २८ ॥

एतदेव प्रपञ्चयति—

एतदेव दर्शयति षष्ठ्या—

उद्गच्छन्तीं तडिद्रूपां प्रतिचक्रं क्रमात्क्रमम् ।

ऊर्ध्वं मुष्टित्रयं यावत् तावदन्ते महोदयः ॥ २९ ॥

तामेव शक्तिं तडिद्रूपां विद्युद्वत् चलद्दीप्तयोज्ज्वलां प्रतिचक्रं कन्दादिब्रह्मरन्धान्तचक्रेभ्यः क्रमात्क्रमम् उद्गच्छन्तीमुल्लसन्तीं चिन्तयेत्, यावत् परं विश्वपूरकं ऊर्ध्वं मुष्टित्रयं द्वादशान्तधाम तावत् महाभैरवैकात्मतोदयः ॥ २९ ॥

कन्दादिब्रह्मरन्धान्तं क्रमात् क्रमेण उद्गच्छन्तीं तडिदाकारसंनिभां प्रोज्ज्वलद्रूपां, तदूर्ध्वं च चतुरङ्गुलपरिमितां मुष्टिं यावद्द्वादशान्तं तावदन्ते महोदयः मुष्टित्रयशेषेण महोदयः अहमित्यविमर्शः स्यादेवेति । तथा च श्रीभगवता गीतम्—

‘अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।’
इत्यादिना । तथा च—

‘सर्वो ममायं विभव इत्येवं परिजानतः ।
विश्वात्मनो विकल्पानां प्रसरेऽपि मद्देशता ॥’

इत्यादिना प्रत्यभिज्ञायामपि ॥ २९ ॥

सप्तमीमाह—

क्रमद्वादशकं सम्यग्द्वादशाक्षरभेदितम् ।

स्थूलसूक्ष्मपरस्थित्या मुक्त्वान्ततः शिवः ॥ ३० ॥

जन्माग्र मूल-कन्द-नाभि-हृत्-कण्ठ-तालु-भ्रूमध्य-ललाट-ब्रह्मरन्ध्र-
शक्ति-व्यापिन्याख्यं यत्क्रमाणां चक्राणां द्वादशकं, क्रमेण कुटिलाकृत्य-
नाहतेन युक्तं यदेतदेव द्वादशकं, तत् सम्यगिति क्रमेणादिविसर्गान्तैः
द्वादशाक्षरै रञ्जितम्, षण्ठस्वरवर्जं द्वादश स्वरभेदाः, प्रत्येकं
‘स्वाभाविकं चलं दीप्तम्’ इति-स्थित्या आदौ ध्यानं स्फुटीकृतम्,
ततः स्पन्दमानम्, ततोऽपि ज्योतीरूपतां प्राप्तम्, स्थूलं सूक्ष्मं
परिमित्यभिधीयते, इति सोपानपदक्रमं मुक्त्वा मुक्त्वा परित्यज्य
अन्ततोऽन्ते परमशिवभावः ॥ ३० ॥

जन्माग्रमूलकन्दनाभिहृत्कण्ठतालुभ्रूमध्यललाटरन्ध्रशक्तिव्यापिन्याख्यं यत्
चक्राणां द्वादशकं द्वादशस्थाननामभिः प्रसिद्धम्, तच्च आदौ ध्यानेन स्फुटम्,
ततश्च स्पन्दमानम्, ततोऽपि ज्योतीरूपतां प्राप्तम्, सूक्ष्मं परमित्यभिधीयते,
तदभिधानेन च सर्वजित्वात् सर्वत्रावभासकः शिव एव प्रकाशते
परमार्थतः ॥ ३० ॥

खेचरीमुद्रामाह—

इदानीमष्टमीमाह—

तयापूर्वांशु मूर्धान्तं भङ्क्त्वा भ्रूक्षेपसेतुना ।

निर्विकल्पं मनः कृत्वा सर्वोर्ध्वे सर्वगद्गोमः ॥ ३१ ॥

तथा जन्मादिचक्रक्रमणशक्त्या प्राणारूपा अर्धचक्रात्मिकया
मूर्धान्तं द्वादशान्तमापूर्य, तथा तमेव द्वादशान्तं भ्रूक्षेपसेतुना भ्रूभेदन-
क्रमेण सेतुनेव वारिप्रवाहं गुरूपदेशयुक्त्या भङ्क्त्वा, तदनन्तरं

निर्विकल्पं मनः कृत्वा, सर्वोर्ध्वं द्वादशान्तादप्यूर्ध्वं परमाकाशे सर्वव्यापकत्वं स्यात् ॥ ३१ ॥

जन्मादिचक्रेभ्य ऊर्ध्वोर्ध्वक्रमेण प्राणेन मूर्धन्तिं द्वादशान्तं पूरयित्वा उपारोहितयोर्भुवोर्भङ्गेन सेतुनेव वारिप्रवाहम्, मनो भङ्क्त्वा त्यक्त्वापलं विधाय अत एव निर्विकल्पं तन्मनः कृत्वा, सर्वोर्ध्वं द्वादशान्तादपि चोर्ध्वं परमाकाशे सर्वव्यापकत्वं स्यादेव इति निश्चयः ॥ ३१ ॥

इदानीं नवमीमाह—

शिखिपक्षैश्चित्ररूपैर्मण्डलैः शून्यपञ्चकम् ।

ध्यायतोऽनुचरे शून्ये प्रवेशो हृदये भवेत् ॥ ३२ ॥

मयूरस्य पत्राणि आधारत्वेनैषां सन्ति एतादृशैश्चित्ररूपैश्चन्द्र-
कैर्दीप्यमानैरपि अन्तर्बहिः शून्यरूपैः सादृश्येन शून्यपञ्चकमूर्ध्वधो-
मध्यपार्श्वद्वयस्थितं पञ्चेन्द्रियेषु शून्यरूपत्वं वा हृदये ध्यायतः परमा-
काशसमावेशो भवेत् । शिखिपक्षचित्ररूपैरिति पाठे त्वयमर्थः—
शिखिपक्षवच्चन्द्रकवच्चित्ररूपैः रूपरसादिग्रहणात् नानारूपैः मण्डलैः,
मण्डं रससारं लान्तीदृशि मण्डलानिन्द्रियाणि तैः शून्यपञ्चकं तन्मात्र-
त्वेनाव्यक्तत्वात् शून्यरूपं विषयपञ्चकं शब्दादिरूपं ध्यायतोऽनुचरे
शून्ये भैरवरूपे प्रवेशः समावेशो भवेदिति ॥ ३२ ॥

तथाहि शिखिपक्षैर्मयूरपुच्छैश्चित्ररूपैरनेकवर्णैरिव, पञ्चेन्द्रियमण्डलानि
चित्रवत् भासमानि 'चित्रमेतत् शून्यमेव' इति ध्यायतोऽनुत्तररूपे शून्ये परम-
धामनि प्रवेशः परमा गतिः स्यादिति निश्चयः । गन्धर्वनगरतुल्यं चित्रमिवेदम्
इति निश्चयेन परमार्थसिद्धिः स्यादेवेति भावः ॥ ३२ ॥

इदानीं दशमीमाह—

ईदृशेन क्रमेणैव यत्र कुत्रापि चिन्तना ।

शून्ये कुड्ये परे पात्रे स्वयं लीना वरप्रदा ॥ ३३ ॥

ईदृशेन क्रमेण हानादानरूपेण, आक्रमेण, गुदाधार-जन्म-कन्द-
नाभि-हृत्कण्ठ-तालु-भ्रूमध्य-ललाट-ब्रह्मारन्ध्र-शक्ति-व्यापिन्यन्तं यत्र
कुत्रापि स्वात्मनोऽन्यत्र स्वात्मवत् परत्रापि व्योम्नि प्राकारभाजनादौ,
यद्वा परे पात्रे निर्मलचित्ते शिष्यादौ चिन्तना स्मरणा, स्वयं लीना

अहर्निशं स्वदेहान्तः क्रमद्वादशकारोहणगाढतरध्यानावमर्शनबलात्
स्वयमेव लीना सती स्मृतिः वरप्रदा भवेत्—परप्रकाशोदयात्मको-
त्कृष्टवस्तुप्रदायिनी भवति । यदुक्तम्—

‘सर्वोत्तीर्णं रूपं सोपानपदक्रमेण संश्रयतः ।
परतत्त्वरूढिलाभे पर्यन्ते शिवमयीभावः ॥’

इति ।

चिन्तनात् इति पाठे तु पूर्वोक्तां मरुच्छक्तिं प्रथमान्तत्वेन विपरि-
णमय्य मरुच्छक्तिः मण्डूकप्लुत्या अनुवर्तनीया, तेन चिन्तनात् होतोः
मरुच्छक्तिः शून्ये बाह्ये कुड्यादौ वा स्वयं लीना सती वरप्रदेत्यन्वयः,
बाह्यशून्यकुड्यादिकेऽपि स्वात्मवपुषीव प्राणशक्तिक्रमद्वादशकं
चिन्तनीयमिति तात्पर्यम् ॥ ३३ ॥

एवं क्रमेण ध्यायतः परे स्वात्मनि वा अन्यत्र कुड्यादौ वा परपात्रे च
एकाग्रभावनादाढ्यवाप्सौ मरुच्छक्तिः स्वयं लीना स्यात्—यत्र तत्र परपद-
परामर्शव्यभावेन अहंरूपतादात्म्यताभिमानः स्यादित्यर्थः । तथा च श्रीस्पन्दे—

‘यस्मात्सर्वमयो जीवः सर्वभावसमुद्भवात् ।
तत्संवेदनरूपेण तादात्म्यप्रतिपत्तिः ॥
तेन शब्दार्थचिन्तासु न सावस्था न या शिवः ।
भोक्तैव भोग्यभावेन यदा सर्वत्र संस्थितः ॥
इति वा यस्य संवित्तिः क्रीडात्वेनाखिलं जगत् ।
संपश्यन्सततं युक्तो जीवन्मुक्तो न संशयः ॥’

इत्यादिना निरूपितम् ॥ ३३ ॥

एकादशीमाह—

कपालान्तर्मनो न्यस्य तिष्ठेन्मीलितलोचनः ।
क्रमेण मनसो दाढ्यात् लक्ष्येच्छक्ष्यमुत्तमम् ॥ ३४ ॥

शिरःकपालमध्ये यदन्तस्त्रिद्वयमस्ति तदनन्तरे मनो न्यस्य, कपाल-
रन्ध्रस्थिते स्वप्रकाशे प्रभास्वरे ज्योतिषि आलम्बने धारणाध्यान-
समाधीन् संपादयित्वा [संपाद्य] कूणितनेत्रः स्थितः सन् उत्तमं लक्ष्यं
लक्षयेत् ।

‘मूर्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम्’ योग० पा० ३ सू० ३१.

इति न्यायात् । यद्वा

‘कशब्देन पराशक्तिः पालकः शिवसंज्ञया ।

शिवशक्तिसमायोगं कपालं परिपठ्यते ॥’

इति तन्त्रकोशयुक्त्या कपालान्तः प्रकाशविमर्शस्वरूपमध्ये

‘शक्तयोऽस्य जगत् कृत्स्नं शक्तिमांस्तु मद्देश्वरः ।’

इति नीत्या शिवशक्तिमयं सर्वं जगत्, इति-विमर्शविषयं मनोन्यस्य,
मीलितलोचनः संकुचितभेददृष्टिः सन् सर्वोत्तमं लक्ष्यं पश्यतीत्यर्थः ॥

कपालकुहरान्तः—शिरःकवाटमध्ये, मीलितलोचनोन्तःसंकुचितहृदयादि-
बाह्यान्तरिन्द्रियवर्गः, सुषुम्नायामस्तङ्गतप्राणापानादिचारेण तद्वाढ्यत् यत्
लक्ष्यमस्ति तदेव लक्षयेत्, घटोऽयमिति वत् प्रत्यक्षत उत्तमं ज्योतिः पश्य-
तीत्यर्थः ॥ ३४ ॥

द्वादशीमाह—

मध्यनाडी मध्यसंस्था विससूत्राभरूपया ।

ध्यातान्तव्योमया देव्या तया देवः प्रकाशते ॥ ३५ ॥

मध्यनाडी सुषुम्नाख्या, मध्यसंस्था हृदयमध्यस्था भवतीत्यन्वयः,
सूक्ष्मत्वात् मृणालसूत्रतुल्यरूपया ध्यातं चिन्तितमन्तव्योमचिदाका-
शात्मकं यस्यां सा, तथाविधया देव्या देवः प्रकाशः प्रकाशते, मध्य-
नाड्यामन्तश्चिदाकाशात्मकं शून्यमेवास्ति, तस्मात् प्राणशक्ति-
निःसरति—इति विमर्शेन प्रकाशप्रादुर्भावः, यद्वा मध्य-नाडी मध्यसंस्था
चासौ विससूत्राभरूपा च मध्यनाडी मध्यसंस्थविसरूपा च इति
विशेषणोभयपदः समासः, तथा एवं-विधया मरुच्छक्त्या तन्मध्य-
चिन्तिताकाशया देवः प्रकाशते ॥ ३५ ॥

विसतन्तुतनीयसी इति लक्षिताया ध्यातमन्तव्योम यस्यास्तादृश्या
भैरव्याः शून्यं रूपं ध्यातं सत् दृष्टिमात्रतो देवः स्वयंप्रकाशः प्रकाशत इति
भावः । स्पन्दे च

‘तदा तस्मिन्महाव्योम्नि प्रलीनशशिभास्करे ।

सौषुप्तपदवन्मूढः प्रबुद्धः स्यादनावृतः ॥’

इत्यादिना वितत्य दर्शितम् ॥ ३५ ॥

त्रयोदशीमाह—

कररुद्धदृगस्त्रेण

भ्रूभेदाद्द्वाररोधनात् ।

दृष्टे बिन्दौ क्रमास्त्रीने तन्मध्ये परमा स्थितिः ॥ ३६ ॥

अंगुष्ठतर्जन्यादिक्रमेण कराभ्यां रुद्धानि दृगुपलक्षितानि मुख-
रन्ध्राणि येन तादृशस्य योगिनोऽस्त्रेण भ्रूमध्यस्थग्रन्थिविदारणात्
हेतोर्बिन्दौ दृष्टे क्रमादेकाग्रताप्रकर्षात् लीने संविद्गगने एव मध्येऽस्य
योगिनः परमा स्थितिः भैरवाभिव्यक्तिः स्यादित्यर्थः । अयमत्रान्वयः—
कररुद्धदृगस्त्रेण करणेन यत् द्वाररोधनं द्वारस्थगनं तस्मात् हेतोर्यो
भ्रूभेदस्तस्माद्धेतोः बिन्दुदर्शनम् । यद्वा द्वारं ब्रह्मद्वारं तस्य रोधनं
स्थगनं भ्रूमध्यकृतमेव ततो हेतोः—भ्रूमध्यग्रन्थिविदारणात् हेतोः
परसंविद्दर्शनम् । अथवा रोधनादिति त्यबलोपे पञ्चमी, तेन सर्वद्वार-
रोधनं कृत्वा भ्रूग्रन्थिविदारणात् संवित्प्रकाशः ॥ ३६ ॥

कराभ्यां रुद्धानि दृगुपलक्षितानि मुखरन्ध्राणि येन एतादृशस्य योगिनो
भ्रूमध्यग्रन्थिविदारणात् बिन्दौ दृष्टे क्रमात् एकाग्रताप्रकर्षेण लीने, तन्मध्ये
परमा स्थितिः—परभैरवाभिव्यक्तिः स्यादित्यर्थः ॥ ३६ ॥

चतुर्दशीमाह—

धामान्तः क्षोभसंभूतसूक्ष्माग्नितिलकाकृतिम् ।

बिन्दुं शिखान्ते हृदये लयान्ते ध्यायतो लयः ॥ ३७ ॥

धाम्नो लोचनवर्तिनस्तेजसः, अन्तःक्षोभेण अत्यन्तनिष्पीडनादिना
संभूतं सूक्ष्माग्नितिलकाकृतिं नयनरश्मिरूपं बिन्दुं द्वादशान्ते हृदि च
ध्यायतो, लयान्ते गलितविकल्पे पर्यवसाने, तेजस्तत्त्वसमावेशः स्यादि-
त्यर्थः । यद्वा धाम्नो दीपादितेजसो योऽन्ते निर्वाणताप्राप्तिसमये
क्षोभः—चाञ्चल्यं, ततः संभूतं सूक्ष्माग्नितिलकाकृतिं बिन्दुं शिखान्तादौ
ध्यायतः ॥ ३७ ॥

धाम्नो लोचनवर्तिनस्तेजसोऽन्तःक्षोभेण अत्यन्तनिष्पीडनादिना संभूतं ।
यद्वा धाम्नो दीपादेस्तेजोमयस्यान्ते निर्वाणताप्राप्तिसमये यः क्षोभश्चाञ्चल्यं ततः
संभूतं सूक्ष्माग्नितिलकाकृतिं बिन्दुं ध्यायतः, शिखान्ते द्वादशान्ते हृदये गलित-

लयान्तरे लयः तदैक्योपपत्तिर्भवेत् । गलिते विकल्पे तदवसाने च परमतेजस्त-
त्त्वसमावेशः स्यादित्यर्थः ॥ ३७ ॥

पञ्चदशीमाह—

अनाहते पात्रकर्णेऽभग्नशब्दे सरिद्द्रुते ।

शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति ॥ ३८ ॥

पात्रे कर्णौ यस्य तस्मिन्, न पात्रे कर्णौ यत्र तादृशि अन्तरूपलभ्ये
इति केचित्, तत्त्वतो हि अनाहतध्वनिः कर्णगोचर एव श्रूयते इति
साधकाः, सरिद्द्रुते वेगवाहिनि । यद्वा परिश्रुते इति पाठे परितः
समन्तात् सर्वेषु प्रदेशेषु निर्गलिते श्रवणगोचरं गते इत्यर्थः । अभग्न-
शब्दे अर्हन्निशं विच्छेदनरहित शब्दने, अनाहते न केनचित् आहते
स्वरसत् एवोत्थिते, नादभट्टारकात्मनि शब्दब्रह्मणि यो निष्णातः
कृतधारणाध्यानसमाधिः, स परं ब्रह्माप्नोति ब्रह्मैव भवतीत्यर्थः ।
अविच्छिन्नानाहतध्वनिविषयचित्तैकाग्र्यतया परमाकाशस्वरूपा-
विर्भावः ॥ ३८ ॥

यत् दशधोपलक्षितं शब्दब्रह्म तत्रनिष्ठत्वेन परं ब्रह्मावाप्तिः । शब्दे कथं-
भूते न बहिः प्रसरणरूपैर्नीलादिभिराहते व्याप्ते, अत एव च न पात्रे कर्णौ
यस्येति स्थूलशब्दादिव्यतिरिक्तत्वात्, अतश्च अभग्नशब्दे न भग्नः शब्दो यस्य
अनाहते शब्दे नादभट्टारकशब्दब्रह्मरूपे, सरिद्द्रुते च वेगवाहिनि तत्र च
दृढनिष्ठः सन् ब्रह्मत्वमाप्नुयादिति भावः ॥ ३८ ॥

षोडशीं धारणामाह—

प्रणवादिसमुच्चारान् प्लुतान्ते शून्यभावनात् ।

शून्यया परया शक्त्या शून्यतामेति भैरवि ॥ ३९ ॥

प्रणवादयः प्रणवप्रकाराः, आदिशब्दः प्रकारे, यथा—वेदप्रणव
ओंकारः, शिवप्रणवः हूंकारः, मायाप्रणवः ह्रींकार इत्यादिवह्वः
प्रकारास्तन्त्रेषु उद्दिष्टाः, तेषां समुच्चारो ह्रस्वदीर्घप्लुतभेदेनोच्चारः ।
तथा चाथर्वशिखोपनिषत्

‘यावसाने चतुर्थ्यर्धमात्रा सा विद्युद्वती सर्ववर्णा

पुरुषदैवता, स हि एष ओंकारश्चतुरक्षरश्चतुष्पाद-
श्चतुरक्षरमात्रः स्थूलमेतद्द्वस्वो दीर्घः प्लुतः ।'

इति ।

‘ओं ओं ओं इति त्रिरुक्त्वा चतुर्थः शान्तात्मा
प्लुतप्रयोगेण समस्तमोमिति प्रयुज्य आत्मज्योतिः
सकृदावर्त्य ।’

इति गुर्वक्षरेषु शून्यपात्रध्वनिवत् दीर्घकालमुच्चरितो यः प्लुतो मात्रा-
त्रयपरिमितो वर्णः, एवंविधप्लुतान्ते प्लुतविश्रान्तौ बिन्द्वादिप्रमेयाना-
रोहेण शून्यभावेनात् शून्यया वेद्यशून्यतामाप्तया पराशक्त्या शून्य-
तामेति—भेदशून्यपरमैरवतामाप्नोति, अर्धमात्रायाः प्लुतोच्चारणेन
हि सूक्ष्मा ध्वनयो बिन्द्वर्धचन्द्राद्या निष्पन्ना भवन्ति, अत एव समु-
दायशक्त्या अखण्डं ब्रह्म बोधयति प्लुतोच्चारणमिति प्लुतं कृत्वापि
यदन्ते शून्यमुच्चारयितुमशक्यमूर्ध्वार्धमात्रात्मकमखण्डचिन्मात्रस्वरूपं
तदपि समस्तमन्ते भवति । प्रणवार्थस्तु अकार-उकार-मकारास्तस्य
परब्रह्मणो व्यस्तत्वेन वाचकाः चतुर्थे नार्धमात्रास्वरूपेणाक्षरेण समस्तं
ब्रह्मतत्त्वं वक्ति प्रणवः—

‘तस्य वाचकः प्रणवः’

(योगसूत्र पा० १ सू० २)

इति न्यायात् सर्वविकारातीतं तुरीयं धामाखण्डचैतन्यात्मकमेकं तत्त्व-
मर्धमात्राया विषयः यत्र परामर्शनीयनिष्ठविशिष्टरूपतास्थगनमेव
परामर्शौचित्यस्य जीवितम्, तत्र समस्तभावनिर्भरात्मकसंविन्मयपर-
मेश्वरपरामर्शादौ

‘वाक्यार्थे पदवचनं वर्णवचनं तदंशांशवचनम्’

इति वा न्यायेन प्रणवादिबीजपिण्डतदंशगतमेव, प्रत्युत मुख्यं वाचक-
त्वमिति परिपूर्णाद्वितीयपरमशिववाचकः प्रणव इति निर्णयः । यच्छ्री-
मान् पुष्पदन्तः—

‘त्रयीं तिस्रो वृत्तीस्त्रिभुवनमथो त्रीनपि स्वरा-

नकाराद्यैर्वर्णैस्त्रिभिरभिदधत्तीर्णविकृति ।

तुरीयं ते धाम ध्वनिभिरवरुन्धानमणुभिः

समस्तं व्यस्तं त्वां शरणं गृणात्योमिति पदम् ॥

इति ॥ ३६ ॥

प्रणवादीनां लघूच्चारात् तदनन्तरं च दीर्घोच्चारात् तदनन्तरं प्लुतोच्चाराच्च कुक्कुटस्तवत् व्याप्तेः, तदनन्तरं विजित्य तां शून्यावस्थालम्बनेन शून्यातिशून्योच्चारेण शून्यतामुल्लङ्घ्य अन्तर्मुखताभ्यासात् परमा गतिः करवित्त्ववत् संभाव्या नान्यथा ॥ ३९ ॥

सप्तदशीमाह—

यस्य कस्यापि वर्णस्य पूर्वान्तावनुभावयेत् ।

शून्यया शून्यभूतोऽसौ शून्याकारः पुमान्भवेत् ॥ ४० ॥

पूर्वान्ताविति उच्चिच्चारयिषाविरामौ, शून्यानुगततया भावयेत्, शून्ययेति प्राग्वत्, पुमान् अन्तः शून्याकारः निवृत्तदेहादिप्रमातृताभिमानः ॥ ४० ॥

पूर्वं शिक्षा, ततस्तदनुभवः, ततोऽपि गुरुप्रसादादिना तदन्ते तन्निश्चयः, ततोऽन्तर्नाडीचक्रादिपरीक्षा, ततश्च शून्यातिशून्ययोजनया ओमिति निश्चित्य तं च परब्रह्मणि, ततश्च शून्यातिशून्यतामेति—सर्वमिदं गन्धर्वनगरादितुल्यवृत्तान्तं, यदन्यत् तद्ब्रह्म इति बुद्ध्या अतिरिच्यते ॥ ४० ॥

अष्टादशीमाह—

तन्त्र्यादिवाद्यशब्देषु दीर्घेषु क्रमसंस्थितेः ।

अनन्यचेताः प्रत्यन्ते परव्योमवपुर्भवेत् ॥ ४१ ॥

तन्त्रीः आदिरवयवो येषां तानि तन्त्र्यादीनि, तानि च तानि वाद्यानि वादनीयद्रव्याणि, शततन्त्री-परिवादिनी-तुम्बवीणादीनि तेषां ये शब्दाः मूर्च्छनात्मकाः स्वराः, क्रमस्थित्या दीर्घेषु बहुलेषु तेषु विषये योऽनन्यचेताः तदालम्बनचित्तवृत्तिसंतानयुक्तः तत्तच्छब्देकाग्रतया परमाकाशतनुर्भवेत्, प्रत्यन्ते तच्छब्दनिवृत्तौ आलम्बनान्तरानुदये परव्योमसमावेशः, दीर्घता अत्रानन्यचेतस्त्वोचितो हेतुः ॥ ४१ ॥

शब्दानुरणन्यायेन पानकचर्वणन्यायेन च पश्चात् अनुभाव्य किमिदं किमत्र प्रयोजनं वा 'देव-द-त्त' इति प्रहरप्रहरोच्चारिता वर्णा नानुभवमधिरोहन्ति, पश्चात् 'देवदत्त' इति, सामीप्यतया उच्चारात् अस्ति किंचिदिति,

तत्पश्चात् ज्ञानान्तरात् ज्ञानस्य संभवेन देवदत्तो नाम कश्चित् ब्राह्मण इति, तदनन्तरं च पौर्वः पाश्चात्यः दाक्षिणः औत्तरो वा इति, तदनन्तरं वेदाध्ययन-शीलः, तदनन्तरमयं वामनदत्तपुत्रः, तदनन्तरं च सुखदत्तभ्राता, तदनन्तरं च पृथूदर्याः पुत्रः इति जातिनामादियुक्ततया उपलभ्यत एव । तद्वत् तन्व्यादि-वाद्यभूतेषु क्रमेण अनन्यचेताः लयत्व-सप्तत्व-तालादौ दत्तमनाः ऐक्याद्यदृढा-भ्यासात् तदेकीभावनया ब्रह्मैव भवति-परव्योमतनुः स्यादिति भावः 'शब्द-ब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति' इति प्रागुक्तदिशा । अथ वा शब्द-ब्रह्मातिवर्तते इति ॥ ४१ ॥

पूर्वं स्थूलवर्णक्रमानन्तरं बिन्दुादिप्रमेयानारोहेण प्लुतोच्चारान्ते शून्यभावनामुक्त्वा अधुना सूक्ष्ममन्त्रार्धमात्रात्मारोहदशायां प्लुतान्ते शून्यधारणामाह—

इदानीमेकोनविंशीमाह—

पिण्डमन्त्रस्य सर्वस्य स्थूलवर्णक्रमेण तु ।

अर्धेन्दुबिन्दुनादान्तः शून्योच्चारान्तवेच्छिवः ॥ ४२ ॥

पिण्डमन्त्रः ह्-स्-र्-क्षादिरूपः, अस्य स्थूलो वर्णक्रमः हकाराः प्रभृति षष्ठस्वरान्तः, अस्य नवात्मकस्य परं बिन्दुस्ततोऽर्धचन्द्रः अनन्तरं नादः एतस्य स्वकीयछायापुरुषदर्शनादिसमये बिन्दुर्धचन्द्र-नादानामन्ते पर्यवसाने शून्यरूपात् प्लुताच्चारान्त परमशिवीभावः । स्थूलवर्णक्रमेणेति विशेषणे तृतीया, तेन स्थूलवर्णक्रमेणोपलक्षितस्य पिण्डमन्त्रस्येत्यर्थः । यद्यपि अकारादीनां प्लुतोच्चारसंभवः तथापि उवर्णनिष्पन्नप्लुतोच्चारस्य बाहुल्यं शास्त्रप्रसिद्धत्वं च । यदाह पाणिनिः

‘ऊकालोऽज्-ह्रस्वदीर्घप्लुतः’ (अ० १ पा० २ सू० २७)

इति । अन्ये तु आहुः नाभ्यादिद्वादशान्तं यावत् प्रणवमात्रासोपानेषु आरोहक्रमम्,—नाभौ अकारम्, हृदि उकारम्, आन्ते मकारम्, भ्रूमध्ये बिन्दुम्, लालटे अर्धचन्द्रम्, ललाटोर्ध्वे निरोधिनीम्, शिरसि नादम्, ब्रह्मरन्ध्रे नादान्तम्, शक्तिं त्वक्स्थाम्, व्यापिनीं शिखामूलस्थाम्, शिखास्थां समनाम्, शिखान्तस्थाम् उन्मनामुल्लङ्घ्य द्वादशान्तं यावत् षोडश भूमिका अपि उल्लङ्घ्य सप्तदशे निरञ्जने द्वादशान्तस्थे परम-

शिवे व्योमाकारे स्वमात्मानं भावयेत्,—इत्येवं लक्षणं कलादीक्षासंप्रदा-
यमुपदिशति 'पिण्डमन्त्रस्य' इति, अत्र बिन्द्वर्धचन्द्रनादान्तेति पठनीयम्,
बिन्दोरनन्तरं हि अर्धचन्द्रोच्चारः, एवं शरीरं षट्चक्राधारं, तद्रूपो
यो मन्त्रः प्रणवाख्यः, 'सोहं' रूपो वा, सोहम्-इत्यत्र सकारहकार-
रूपहलो लोपे ओमित्यवशिष्यते, यतोऽयं नाम्यादिद्वादशान्तं यावत्
पिण्डे विभक्तः अतः पिण्डमन्त्रः ओंकारः, सोहमित्यजपागर्भितः हृदय-
विषयेऽत्यर्थं ध्वनति । यदुक्तम्—

‘ओमिति स्फुरदुरस्यनादतं

गर्भगुम्फितसमस्तवाङ्मयम् ।

दन्ध्वनीति हृदि यत्परं पदं

तत्सदक्षरमुपास्महे महः ॥’

इति । हृत्कण्ठतालवादिक्रमेण स्वा द्वादश मात्रा अकाराद्या उन्मन्यन्ताः
स्थानान्तरेषु नाम्यादिषु शिखान्तावधिषु विभज्य स्थितः, तस्य यः
स्थूलो वर्णक्रमः—उच्चार्याक्षरपरिपाटी, नाभिहृदाननेषु हि मात्रात्रयस्य
उच्चार्यत्वात् स्थूलत्वम्, बिद्वन्तानां स्थूलवर्णानामुच्चारणकालो
मात्रा, बिन्द्वादिसमनान्तानामर्धमात्रा, तद्रूढं तु परमशिवस्थानम्,
तथा स्थूलाक्षरानुपूर्व्याः उपलक्षितस्य पिण्डमन्त्रस्य बिन्द्वर्धचन्द्रना-
दान्तशून्याः, अत्र निरोधिनी-नाद-शक्ति-व्यापिनीसमना अनुक्ता अपि
द्रष्टव्याः, शून्याशब्देन तु उन्मनी उक्तैव, तेनायमर्थः—बिन्द्वर्धचन्द्र-
निरोधिनी—नाद—नादान्त—शक्ति—व्यापिनीसमनोन्मनीनामुच्चारात्
द्वादशमात्रोच्चारकालभावनया शिव एव भवेत् । यद्वा अकारादि-
समनान्तानां मात्राणां शून्योच्चारात् शून्यताविमर्शनात् उन्मनारूप-
परमशिवीभावो भवेत्, समनान्तस्य विश्वस्य हेयत्वात् उन्मनापरतत्त्व-
समावेश उपादेयः । उन्मनादीनां लक्षणानि आह नेत्रतन्त्रे

‘सा शक्तिः परमा सूक्ष्मा उन्मना शिवरूपिणी ।

अस्ति त्वमात्रमात्मानं क्षोभ्यं क्षोभयते यदा ॥

समना सा विनिर्दिष्टा शक्तिः सर्वाध्ववर्तिनी ।

क्रोडीकरोति या विश्वं संहृत्य सृजते पुनः ॥

कुण्डलाख्या महाशक्तिस्तृतीयाप्युपचर्यते ।

ध्वनिरूपो यदा स्फोटस्त्वदृष्टाच्छिवविग्रहात् ॥

प्रसरत्यतिवेगेन ध्वनिनापूरयञ्जगत् ।
स नादो देवदेवेशः प्रोक्तश्चैव सदाशिवः ॥'

अत्र नादान्तोऽप्यनुप्रविष्टः ।

'ध्वनिरध्वगतो यत्र विश्राम्यत्यनिरोधितः ।
निरोधिनीति विख्याता सर्वदेवनिरोधिका ॥
निरुद्धस्य महेशत्वमहिमा न प्रवर्तते ।
असंख्यातास्तु कोट्यो वै मन्त्राणां तत्र संस्थिताः ॥
लभते तत्प्रविष्टा वै.....

या चेयं निरोधिकाख्या मान्त्री कला

.....स बिन्दुश्चेश्वरः स्मृतः ।
यदा शिवामृतं मूर्ध्नि पतति सृष्टिकारणम् ॥
आप्यायस्तु भवेत्तेन सोऽर्धचन्द्र इति स्मृतः ।'

एष चार्धेन्दुः बिन्दुपदात् ऊर्ध्वमारोहतां

'संहारः सर्वभूतानां.....

नादादवरोहतां तु

.....सृष्टिकारणमेव च ॥
मकारो ह्यत्र वै रुद्रो वर्णसंघट्ट उत्तमः ।
यदा स्थितिं तु लभते स्वोन्मुखं सृष्टिकारणम् ।
प्रतिष्ठाख्य उकरस्तु विष्णुः साक्षाद्भवत्यसौ ॥'

इति ॥ ४२ ॥

पूर्वोक्तनवात्मादेः वामादिशक्त्यादिना वा नवतत्त्वादेः, अकारादि-हका-
रान्तेन च शिवशक्तिसमागमेन अहमिति, वा ओमित्यस्योच्चारो यः अकार-
उकार-मकार-बिन्दु-अर्धचन्द्र-नाद-नादान्त-समना-उन्नमना-परा-शक्ति-व्यापि-
न्यादिक्रमेण पाश्चात्यरूपमेव निश्चयेन निश्चित्य पर्यवसानेन शून्योच्चारात्
शिवो भवेदिति भावः ॥ ४२ ॥

इदानीं विंशतितमीं धारणामाह—

निजदेहे सर्वदिकं युगपद्भावयेद्वियत् ।
निर्विकल्पमनास्तस्य वियत्सर्वं प्रवर्तते ॥ ४३ ॥

एकाग्रमनाः सर्वासु दिक्षु पुरतो दक्षिणे वामे पृष्ठतश्च अक्रमेण
शून्यं भावयेत्, ततस्तस्य परमाकाशसमावेशः ॥ ४३ ॥

यदि निर्विकल्पमना एकाग्रमनाः स्यात्, सर्वासु पूर्वादिदिक्षु विद्यदेव
भावयन्—सर्वत एव शून्यतां भावयन्, न नीलपीतादिकं किमप्यस्तीति 'शुक्ता-
विदं रजतम्' इतिवत् अविषयम् इत्येवं भावनया 'परमशून्यः स्यादिति, यन्
स्तस्य शून्यादिविकल्प एव । तथा च प्रत्यभिज्ञायामेतन्निर्दिष्टमस्ति—

‘चित्तत्वं मायया हित्वा भिन्न एवावभाति यः ।
देहे बुद्धावथ प्राणे कल्पिते नभसीव वा ॥
प्रमातृत्वेनाहमिति विमर्शोऽन्यव्यपोहनात् ।
विकल्प एव स परप्रतियोग्यवभासजः ॥’

इत्यादिना, यत्परं शून्यातिशून्यं शिवतत्त्वं तदेव ज्ञेयमिति भावः ।

यतश्च तत्रैव—

‘शून्याद्यबोधरूपास्तु कर्तारः प्रलयाकलाः ।
तेषां कर्ममलोऽप्यस्ति मायीयस्तु विकल्पितः ॥’

इति निर्धारितम् ॥ ४३ ॥

इदानीमपरां धारणामाह—

पृष्ठशून्यं मूलशून्यं युगपद्भावयेच्च यः ।

शरीरनिरपेक्षिण्या शक्त्या शून्यमना भवेत् ॥ ४४ ॥

ऊर्ध्वाधिःशून्यभावनया निराश्रयदेहसंपत्तौ शरीरनिरपेक्षणीयत्वं
शक्तेः ॥ ४४ ॥

ऊर्ध्वाधो दक्षिणतोत्तरतः सर्वतोऽपि शून्यमेव ध्यात्वा

‘सर्वं खल्विदं ब्रह्म ।’

इति भावनया विचिन्त्य, शिवतत्त्वं करस्थवित्त्ववत् आभाति, इति नाश्रयम् ॥

अपरामाह—

पृष्ठशून्यं मूलशून्यं हृच्छून्यं भावयेत्स्थिरम् ।

युगपन्निर्विकल्पत्वान्निर्विकल्पोदयस्ततः ॥ ४५ ॥

पृष्ठे ऊर्ध्वे प्रमातृरूपं शून्यतया भावयेत्, मूलमपि अधोदेशात्मकं प्रमेयं तदपि शून्यमिति भावयेत्, हृच्छून्यं हृदयमध्येऽपि प्रमाणात्मके शून्यतां भावयेत्, भावकस्यापि हृदो मध्यवर्तिनः शून्यतात्राधिका, स्थिरमिति क्रियाविशेषणम्, निर्विकल्पस्य चिद्भास्वः उदय अभिव्यक्तिः ।

श्रीवासुदेवोऽप्याह—

‘ऊर्ध्वशून्यमधः शून्यं मध्ये शून्यं निराश्रयम् ।

त्रिशून्यं योऽभिजानाति स भवेत्कुलनन्दनः ॥’

इति । कुलं देहादिशक्त्यन्तं परमाकाशत्वनिष्पादनेनानन्दमयं करो-
तीत्यर्थः ॥ ४५ ॥

तन्मूदेशे शून्यतैव क्षणमात्रं विभावयेत् ।

निर्विकल्पं निर्विकल्पो निर्विकल्पस्वरूपभाक् ॥ ४६ ॥

तन्मूशब्द ऊकारान्तः ‘स्त्रियां भूतिस्तनुस्तनूः’ इति अमरः, तन्मूदेशे परिमितग्राहकपदे शून्यतैव इत्येतावन्मात्रं क्षण-रूपकालमपि निर्विकल्पं कृत्वा भावयेत्, किं कथं ? ऊर्ध्वाधरादिशून्यभावनया इत्याशयः, निर्विकल्प इति निरालम्बनताप्रतिपत्त्या अनाहितवासः ॥ ४६ ॥

शिवतत्त्वं विना न किमपि, सर्वमेतत् चिद्विलासास्पदमाश्यानतया चित्रितमिव विभाति । तथा च सिद्धान्तमुक्तावल्यां

‘पश्यामि चित्रमिव सर्वमिदं द्वितीयं

तिष्ठामि निष्कलवदेक अनेकरूपः ।

आत्मानमद्वयमनन्तसुखैकरूपं

स्मरामि दग्धरशनामिव सुप्रपञ्चम् ॥

आश्चर्यमप्यनुभवामि करस्थवित्त्व-

तुल्यं शरीरमहिनिर्लुप्यनीव वीक्षे ।

एवं च जीवनमपि प्रतिभासनं च

निःश्रेयसोऽधिगमनं च मम प्रसिद्धम् ॥’

इत्यादिना आम्नातमस्ति । इत्येवं गन्धर्वनगरादिवत् प्रसिद्धमप्रतिष्ठितम्, इति सिद्धम् ॥ ४६ ॥

अपरामपि आह—

सर्वं देहगतं द्रव्यं वियद्व्याप्तं मृगेक्षणे ।

विभावयेत्ततस्तस्य भावना सा स्थिरा भवेत् ॥ ४७ ॥

प्रोक्तशून्यभावना यस्य न झगिति हृदयमध्यास्ते, स देहगतमस्थि-
मांसादि सर्वं द्रव्यं वियता व्याप्तं विशेषेण भावयेत्, तदनन्तरं तस्य
संयमिनः सा भावना उपादेयशून्यवासना दृढा भवेत् ॥ ४७ ॥

शून्यव्याप्तं सर्वमिदं रज्जुभुजङ्गवत्, असत्यस्वरूपसाध्यत्वाद्वा गन्धर्व-
नगरादिवत्, इत्येवं धारणया यत् देहगतं मांसादि द्रव्यं तत् शून्यतया प्रसिद्धम्,
इति दृढभावनास्थित्या प्रकाशमानप्रकाशः स्यादित्यर्थः ॥ ४७ ॥

अपरामाह—

देहान्तरे त्वग्विभागं भित्तिभूतं विचिन्तयेत् ।

न किञ्चिदन्तरे तस्य ध्यायन्नध्येयभागभवेत् ॥ ४८ ॥

देहान्तरे स्वस्मिन् देहविषये त्वरलक्षणो यो विशिष्टो बहिष्ठो
भागः तं भित्तिभूतं जडबाह्यभित्तिकल्पं भावयेत्, तस्य चान्तर्न किञ्चि-
दस्ति इति ध्यायन्नपि अध्येयभाक् परव्याप्तिरूपः स्यात्,—पुयंष्टक-
प्रमातृभावोपशमात् ॥ ४८ ॥

पञ्चभूतपञ्चीकरणयुक्त्या संबद्धं सत् शरीरमुद्भूतं, यच्च स्थूलं विनश्य-
स्त्वभावं करिकर्णप्रचपलं च इति, नात्र स्थिरता आसीत् अस्ति स्याद्वा इति,
तथा दिग्विभागादि नास्ति बाह्यजडभित्तिमात्रमिदं दक्षिणपार्श्वम् इदं
वोत्तरम् इत्यादिना तस्मात् असदिति समीक्षयेत् । प्रमाता च सदिति
सन्निधयेन ज्ञानीत्युच्यते ॥ ४८ ॥

अपरामाह—

हृद्याकाशे निलीनाक्षः पद्मसंपुटमध्यगः ।

अनन्यचेताः सुमगे परं सौभाग्यमाप्नुयात् ॥ ४९ ॥

हृदि भवे हृद्ये, हारिणि च आकाशे प्राणापानान्तरालपदे, निली-
नमक्षं मनस्तद्द्वारेण चान्येन्द्रियचक्रं यस्य तादृक्, ऊर्ध्वधिरगतपद्म-
संपुटमध्यं गतो—भावनयानुप्रविष्टः, ऊर्ध्वगतं पद्मं प्रमाणं, अधरगतं

प्रमेयम्, तयोर्मध्ये चिन्मात्राख्ये प्रमातरि स्वस्वरूपे स्थितः, अत एव नान्यस्मिन्चिन्मात्रातिरिक्ते चेतो यस्य तादृशः सन्, परं सौभाग्य-विश्वेश्वरतास्वरूपं परमानन्दं विकासेन स्पृहणीयतां प्राप्नोत्येव, प्रमेयादिरूपस्य संसारस्य निमेषोन्मेषात्मकसंकोचविकासघर्मकत्वात् पद्मसंपुटेन रूपणा, चित्प्रकाशतामभिनिविशमानं चित्तं तदाच्छुरितं विश्वं पश्यतीत्यर्थः ॥ ४९ ॥

हृत्पद्मे वद्धबाह्याभ्यन्तरेन्द्रियचक्रः तत्पद्मपुटमध्यगश्च अत एवानन्यचेताः, परं सौभाग्यमाप्नुयात्—बाह्यविषयोपरमात् आभ्यन्तरोदयः संभवेदित्यर्थः ॥

अपरामाह—

सर्वतः स्वशरीरस्य द्वादशान्ते मनो लयात् ।

दृढबुद्धेर्दृढीभूतं तत्त्वलक्ष्यं प्रवर्तते ॥ ५० ॥

सर्वतो रोमकूपान्तरेषु अपि चैतन्यदेवस्य प्रवेशेन शरीरे द्वादशान्तो योऽस्ति तत्र दृढीभूतं प्राप्तैकाग्र्यं मनो, लयात् विश्रान्तेर्हेतोः, दृढबुद्धेः योगिनः, तत्त्वलक्ष्यं परतत्त्वप्रकाशं प्रवर्तते—प्रसरति ॥ ५० ॥

दृढबुद्धेर्योगिनः, दृढीभूतं प्राप्तैकाग्र्यं परप्रकाशरूपं तत्त्वलक्ष्यं प्रवर्तते, द्वादशान्ते शून्यातिशून्ये मनसो लयात् वासनाक्षयात् । अथ वा मध्यधाम्नि-सुषुम्नायां । तथा च

‘सौषुम्नेऽध्वन्यस्तमितौ हित्वा ब्रह्माण्डगोचरम्’ ।

इत्यादिना स्पन्दे विशदीकृतम् ॥ ५० ॥

अपरामाह—

यथा तथा यत्र तत्र द्वादशान्ते मनः क्षिपेत् ।

प्रतिक्षणं क्षीणवृत्तेर्वैलक्षण्यं दिनैर्भवेत् ॥ ५१ ॥

यथा तथा इति स्वरसोदितेन येन तेन संवित्प्रसरणप्रकारेण, यत्र तत्र इति पूर्वोक्तेषु मध्यात् यस्मिन् तस्मिन् प्रदेशे द्वादशान्ते, प्रतिक्षणं मुहुर्मुहुः, मनः क्षिपेत् एकाग्रीकुर्यात्, इत्थं क्षीणवृत्तेः प्रशान्तचाञ्चल्य-स्यास्य, दिनैरिति—अल्पेनैव कालेन, वैलक्षण्यम्—असामान्यपरमैरव-

रूपता भवति, 'यथा यथा यत्र यत्र' इति पाठे तु येन येन प्रकारेण यस्मिन् यस्मिन् विषये मनोनिक्षेपणं तथा तथा तत्र तत्र वैलक्षण्यं भवेदित्यन्वयः ॥ ५१ ॥

एवमेव पूर्वोक्तेन प्रकारेण, प्रशान्तचाञ्चल्यस्य असामान्यपरभैरवतामि-
व्यक्तिः स्यादेवेत्यर्थः ॥ ५१ ॥

अपरामाह—

कालाग्निना कालपदादुत्थितेन स्वकं पुरम् ।

प्लुष्टं विचिन्तयेदन्ते शान्ताभासस्तदा भवेत् ॥ ५२ ॥

ओं र-क्ष-र-य-ऊं तनुं दाहयामि नमः इति दक्षिणपादांगुष्ठात् कालाग्निरुद्रमुत्थितं ध्यात्वा तज्ज्वालया शरीरं भस्मीभूतं भावयेत् इत्येतदाह 'कालाग्निना' इति, कालपदात्-दक्षांगुष्ठात्, स्वकं पुरम्-आत्मीयं देहमेव गुग्गुलम्, शरीरदाहाद्विचिन्तनयुक्त्या आत्मभावनया दग्धं ध्यायेत् । एषोऽप्याणवोपायः ॥ ५२ ॥

दक्षपादांगुष्ठात् उत्थितेन कालाग्निना देहं दग्धं योगतो विभाव्य, योगिनः चिन्मयमूर्तिमान् विभावसुः प्रकाशत इत्यर्थः ॥ ५२ ॥

अपरामाह—

एवमेव जगत्सर्वं दग्धं ध्यात्वा विकल्पतः ।

अनन्यचेतसः पुंसः पुंभावः परमो भवेत् ॥ ५३ ॥

कालाग्निना उत्थितेन, सर्वमिति-देहस्थं बाह्यस्थं च, परमः पुंभावः-अपरिमितप्रमातृभैरवता, इति पूर्वोक्तधारणार्थं एव दृढीकृतः, परं तु पूर्वं स्वपुरदाहचिन्तनमुक्तम् इह सर्वजगदाहभावना इति विशेषः ॥ ५३ ॥

एवमेवेति दक्षपादांगुष्ठोद्भवकालाग्निरुद्रज्वालया सर्वं देहस्थं बाह्याभ्यन्तरं दग्धं विभाव्य, निर्विकल्पचेतसः पुरुषार्थत्वं परोत्कृष्टतया भवेदिति शेषः ॥ ५३ ॥

अपरामाह—

स्वदेहे जगतो वापि सूक्ष्मसूक्ष्मतराणि च ।

तत्त्वानि यानि निलयं ध्यात्वान्ते व्यज्यते परा ॥ ५४ ॥

निजदेहविषये, अथवा सर्वस्य जगतः सम्बन्धीनि यानि सूक्ष्माणि सूक्ष्मतराणि च तत्त्वानि,—प्रकृतिमहदहङ्कारादीनि, तथा पृथिव्यादीनि तद्विकारभूतानि मांसादीनि च यानि सन्ति तेषां निलयं—स्वस्वकारणेषु मृतिदशायां लयं ध्यात्वा, पर्यन्ते परादेवी प्रकटीभवेत्, 'तत्त्वानि यातानि लयम्' इति पाठे तु सर्वतत्त्वानि लयं यातानि नष्टप्रायाणि एव इति ध्यात्वा पराभट्टारिकाविर्भावः ॥ ५४ ॥

पृथिव्यादीनि पञ्चभूतानि तद्विकाराणि मांसास्थ्यादीनि यानि च सन्ति, तेषां लयं—स्वस्वकारणेषु लीनतां ध्यात्वा, पर्यन्ते परा देवी प्रकटा स्यात्, मयूराण्डरसन्यायेन परा सर्वमेतदन्तः-स्थितमेव बहिः प्रकाशयेदिति भावः । अयमत्र तात्पर्यार्थः—सर्वभेदा-भेदगलनात् पराप्रसादमन्त्रवान् परोदयः स्यादेवेति ॥ ५४ ॥

अपरामाह—

पीनां च दुर्बलां शक्तिं ध्यात्वा द्वादशगोचरे ।

प्रविश्य हृदये ध्यायन् मुक्तः स्वातन्त्र्यमाप्नुयात् ॥ ५५ ॥

प्राणशक्तिमादौ पीनां—पीवरां, ततः क्रमेण कृशां—सूक्ष्मां भवन्तीं, प्राणायामविधिना द्वादशान्ते ध्यात्वा, हृदये च यो ध्यायन् स स्वतन्त्र-परमेश्वररूपः स्यात् ॥ ५५ ॥

प्राणशक्तिमादौ पीनाम्—अन्नपानादिभोजनदिशा पीनत्वं प्राप्तम्, ततोऽपि रूपदेशमार्गेण कुम्भकादिना सूक्ष्मां भवन्तीं ध्यात्वा, ततस्तामेव हृदयादौ प्रावेश्य द्वादशान्ते वा ततः स्वतन्त्रपरमेश्वररूपः स्यादिति निश्चयः ॥ ५५ ॥

अपरामाह—

भुवनाध्वादिरूपेण चिन्तयेत्क्रमशोऽखिलम् ।

स्थूलसूक्ष्मपरस्थित्या यावदन्ते मनोलयः ॥ ५६ ॥

स्थूलसूक्ष्मपरात्मकभुवनाध्वादिवत्कस्वभावं जगत् ध्यायेदित्याह 'भुवनाध्वेति' अत्रायमर्थः,—वर्ण-मन्त्र-पद-कला-तत्त्व-भुवनाख्यस्य षडध्वनोऽपि परसूक्ष्मस्थूलरूपतावस्थितवाचकतद्वाच्याभासरूपक्रिया-शक्तिस्फारस्वरूपत्वम्, तत्राप्यभेदेन विश्वं विमृशन्ति वर्णाः, भेदा-

भेदाभ्यां मन्त्राः, भेदेन पदानि, पूर्वं पूर्वश्चाध्वा उत्तरत्र व्यापकतया स्थितः, उत्तर उत्तरः पूर्वत्र व्याप्यतयान्तर्भूतः इति सर्वं सर्वत्रास्ति, अत एव गर्भीकृतेतराध्वपञ्चकैकाध्वशुद्धिस्तत्र तत्र शास्त्रे चोदिता । तदुक्तं श्रीस्वच्छन्दे

‘भुवनव्यापिता तत्त्वेष्वनन्तादिशिवान्तके ।
व्यापकानि च षट्त्रिंशन्मन्त्रवर्णपदात्मकाः ॥
तत्त्वान्तर्भाविनः सर्वे वाच्यवाचकयोगतः ।
कलान्तर्भाविनस्ते वै निवृत्त्याद्याश्च ता स्मृताः ॥’

इत्यनन्तादिशिवान्तं यानि भुवनानि तद्व्यापकत्वं तत्त्रेषु, तानि च तत्त्वानि व्यापकानि षट्त्रिंशत्, ये तु अन्ये त्रयोऽध्वानः—मन्त्रवर्ण-पदात्मकाः, पञ्चाशत् पदानि नवात्मसम्बन्धीनि एकाशीतिः, ते च सर्वे तत्त्वान्तर्भाविनः तत्त्वानि अन्तर्भावयन्ति इति कृत्वा, कथं वाच्य-वाचकयोगतः तत्त्वादीनि वाच्यानि मन्त्रादयो वाचकाः, कलाशोधन-दीक्षायाः प्रस्तुतत्वात् । तदन्तर्भावं तावत् पञ्चाध्वनामाह ‘कलान्त-र्भाविन’ इति । अस्य सर्वाध्वग्रन्थस्यायं पिण्डार्थः,—परमेश्वरश्चिदा-नन्दधनः स्वतन्त्रभट्टारकः उन्मनाख्यया स्वस्वातन्त्र्यशक्त्या शून्यादि-क्षित्यन्तमनन्तं वाच्यवाचकरूपं स्वभित्तौ स्वानधिकमपि अधिकमिव युगपत् अवभासयति, तत्र वाचकं ग्राहकभागावस्थितं परसूक्ष्मस्थूल-भेदेन वर्ण-मन्त्र-पदात्मकं त्रिधा, वाच्यमपि ग्राह्यभागाभिनविष्टं कला-तत्त्व-भुवनात्मकं तथैव । वर्णा हि अभेदविमर्शसाराः किञ्चि-त्स्थौल्येन भेदाभेदविमर्श-नादात्मकमन्त्ररूपताम् आश्रित्य ततोऽपि स्थौल्येन भेदविमर्शावगमकपदरूपतया भान्ति । एवं वाच्यरूपा पार-मेश्वरी कलाख्या शक्तिः उत्तरोत्तरवैशिष्ट्येन भुवनात्मतां गृह्णाति । वस्तुतश्च इयम् अक्रमैव पारमेश्वरी शक्तिः स्फुरति, तत्रापि च स्वस्वा-तन्त्र्यात् दर्पणनगरवत् क्रममपि आदर्शयति । क्रमेऽपि च पूर्वं पूर्वं उत्तरत्र व्यापकतया स्थितं मृदिव घटादौ, उत्तरं उत्तरं तु पूर्वत्र शक्त्यात्मना स्थितं वृक्ष इव स्वबीजे इति सर्वं सर्वात्मकमेव । अत एव पञ्चतत्त्वदीक्षायां अनाश्रिततत्त्वपर्यन्ता भूतव्याप्तिर्भविष्यति । एवं च एकैकोऽपि प्रमाता भावो वा, वस्तुतः षडध्वस्फाररूपारमेश-शक्तिमय-आदि-हान्तपरामर्शसाराहन्ताविश्रान्तिसतत्त्वः परभैरवरूप

एव । एवं भुवनादिषडध्वात्मकं सर्वं जगत् विमृश्य, तत्र स्थूलतरं किञ्चित्स्थूले विगाल्य, तं च सूक्ष्मे विलीनं कृत्वा, तं च परे चिन्मात्र-बोधे, इत्थम् अध्वप्रक्रियया शैवतत्त्वविमर्शात्मिकया महोदयः इत्यर्थः । तत्तत्तत्त्वलयक्रमेणापि शून्यताभावना इयम् उक्ता ।

‘भुवनादित्रयं वाच्यं पदादिवाचकं त्रयम् ।
शक्तिरेतच्चाध्वषट्कं शक्तिमांस्तु महेश्वरः ॥’

इति संग्रहः ॥ ५६ ॥

भुवनतत्त्वकलापदमन्त्रवर्णाख्यो यः षोढा वाच्यवाचकरूपोऽध्वा तस्या-ध्वनः स्थूलसूक्ष्मैक्यरूपताभ्यसनात् ततस्तत्रैव मनोनयान् पराकाष्ठावगतिरिति भावः । तथा च मालिनीविजये

‘अध्वातीतो भवेच्छिवः’

इत्यादिनानुशिष्टमस्ति ॥ ५६ ॥

अपरामाह—

अस्य सर्वस्य विश्वस्य पर्यन्तेषु समन्ततः ।

अध्वप्रक्रियया तत्त्वं शैवं ध्यात्वा महोदयः ॥ ५७ ॥

शिवः प्रकाशविमर्शरिमा परमेश्वरः, तस्य इदं ‘शैवं तत्त्वं’ स्वरूपं ‘ध्यात्वा महोदयः’ प्रकाशाभिव्यक्तिः । तेन भुवनतत्त्वकलात्मको वाच्यवर्गः प्रकाशपरमार्थः, वर्णमन्त्रपदस्वरूपो वाचकसमूहः विमर्श-वपुः इति उभयसंसर्गारणिवस्वभावः उन्मेषनिमेषशक्तिद्वययोगपद्यानु-भवचमत्कारं ध्यायेत् । भुवनादि-अध्वपर्यन्तेषु हि जगतः शिवात् विना न किञ्चित् इति जगद्रूपं त्यक्त्वा, शिवमेव ध्यायतो महोदयः स्यात् । उक्तं च कर्मकाण्डक्रमावल्याम्—

‘त्रयीसप्तचतुर्युग्ममये त्रितयवर्त्मनि ।

स्थितो यः शक्तिसहितः स जयत्यमृतेश्वरः ॥’

इति । अयम् अत्र उपाध्यायोपदिष्टोऽर्थः—प्रथमम् अनुत्तरेच्छोन्मेष-लक्षणा ‘त्रयी’ ह्रस्वरूपा, तत आनन्देशनोर्मिषण्ठस्वरूपं सप्तकं, चत्वारः संध्यक्षरवर्णाः, ‘युग्मम्’ अनुस्वारविसर्जनीयलक्षणम्, ‘तन्मये’ तत्स्वरूपे षोडशकलात्मपुरुषस्वभावे, ‘त्रितयवर्त्मनि’—वर्ण-मन्त्र-

पदस्वरूपाध्वत्रये वाचकरूपे अभेदभेदाभेदभेदाश्रयभूते, 'यो' मृत्युञ्जयः कालदेहापहारी बोधात्मा परमेश्वरः, 'शक्तिसहितः' कलाख्यया स्वशक्त्या तत्त्वभुवनरूपतां गृह्णन्त्या मिलितः । एतेन कला-तत्त्व-भुवनलक्षणस्य अध्वत्रयस्य वाच्यत्वं सूचितम् । एवं-विधस्य अध्व-षट्कस्य पर-सूक्ष्म-स्थूलरूपत्वं ज्ञेयम्, वाच्यस्य वाचकान्तर्भूतत्वेन पृथक् निर्देशाभावात् त्रितयवर्त्मनि इत्युक्तम्, शेषं पूर्वोक्तमेव इति अलम् ॥ ५७ ॥

अध्वषट्केषु भुवनाध्वपर्यन्तेषु सामान्यतया विशेषतया वा 'न किमपि शिवतत्त्वं विना सारभूतम्' इति विज्ञाय, महोदयः-परमशिवावभासः स्यादित्यर्थः । एतदेव

‘अध्वषट्कादि संत्यज्य जित्वा चेन्द्रियमण्डलम् ।
कारणैः कृतकृत्योऽसौ राजते सूर्यवद्भुवि ॥’

इत्यादिना मालिनीकल्पोत्तरेऽप्यादिष्टमस्ति ॥ ५७ ॥

इदानीं बाह्यशून्यतालम्बनक्रमेण आदिशति—

अपरामाह—

विश्वमेतन्महादेवि शून्यभूतं विचिन्तयेत् ।

तत्रैव च मनो लीनं ततस्तल्लयभाजनम् ॥ ५८ ॥

‘विश्वम्’ इति जगत्, ‘शून्यभूतं’ शून्यातिशून्यताम् आप्तम् । तत्र लयः तन्मयीभावः ॥ ५८ ॥

एतत् सर्वं विश्वं चराचरभूतं न किञ्चित् गन्धर्वनगरादितुल्यम् अध्या-सात्मकम् असदित्याद्याख्यं नामरूपादिहीनं मायागहनं च यदस्ति तत् स्वप्रका-शात्मकं सदिति लक्षितं च सारं लयभाजनं चेति भावः ॥ ५८ ॥

अपरामाह—

घटादिभाजने दृष्टिं भिक्तीस्त्यक्त्वा त्रिनिक्षिपेत् ।

तल्लयं तत्क्षणाद्रत्वा तल्लयात्तन्मयो भवेत् ॥ ५९ ॥

अन्तःसुषिरे वस्तुनि पार्श्वानि त्यक्त्वा दृष्टिं क्षिपेत्, तत्रैव लयात् विश्रान्तेः, परब्रह्मसमाविष्टो भवेत् ॥ ५९ ॥

अन्तःसुषिरे घटादिवस्तुनि दक्षिणोत्तरपार्श्वादि त्यक्त्वा तत्र आकाशे
विश्रान्तत्वात् परमशून्यातिशून्ये मनो लीनं विभाव्य परमब्रह्मसमाविष्टः सन्
ब्रह्मैव संपद्यत इति भावः ॥ ५६ ॥

दृष्टिबन्धनभावनाम् आह—

अपरामाह—

निर्वृक्षगिरिभित्त्यादिदेशे दृष्टिं विनिक्षिपेत् ।

विलीने मानसे भावे वृत्तिक्षीणः प्रजायते ॥ ६० ॥

‘निर्वृक्षादिदेशः’ शून्या दिक्, तत्र दृङ्निक्षेपात् ‘मानसे भावे’
चित्तस्वरूपे, आलम्बनाभात् ‘विलीने’ गलिते सति, योगी ‘वृत्तिक्षीणः’
क्षीणसमस्तवृत्तिः महाप्रकाशरूपो भवति ॥ ६० ॥

पर्वतादौ शून्ये मरुद्देशादौ वा तुङ्गादिविषयादौ वा दृष्टिमात्रं निक्षिप्य
तत्तदालम्बनाभावात् गलिते मानसे, क्षीणसमस्तवृत्तिः प्रजायते—ब्रह्मैव
संपद्यत इत्यर्थः ॥ ६० ॥

निरालम्बभावनाम् आह—

अपरामाह—

उभयोर्भावयोर्ज्ञाने ध्यात्वा मध्यं समाश्रयेत् ।

युगपच्च द्वयं त्यक्त्वा मध्ये तत्त्वं प्रकाशते ॥ ६१ ॥

भावद्वयस्य प्रतीतिकाले ‘मध्यम्’ अन्तरालं तद्भावद्वयावच्छेदहेतुं
शून्यं ध्यात्वा उपलभ्य, सम्यक् ऐकाग्र्येण ‘आश्रयेत्’ । तत एव च
तद्भावद्वयं ‘युगपत् त्यक्त्वा’ अनालोचनेन परिहृत्य, योगिनः तत्र
मध्ये, तत्त्वं—परं धाम व्यज्यते ॥ ६१ ॥

घटोऽयं पटोऽयं तटोऽयमित्यादिनानात्वेन वेद्यराशिपतितस्य सारं विज्ञाय,
वा तन्मध्ये च ज्ञातृत्वावगमनं कृत्वा, अत्र कश्चित् वेदकोऽस्तीति, तेन च ज्ञातृ-
ज्ञानज्ञेयादिनानात्वेन अनानात्वं विधाय, विभागकल्पनात्यागात् ऐकाग्र्यमेव
प्रमातृतत्त्वाख्यं ‘तत्त्वमसि’ इति-वत् निर्विकल्पदशामासाद्य विभागत्यागात्
ऐकाग्र्यतापत्तिरिति सुष्ठु प्रोक्तमिति ॥ ६१ ॥

ध्येयाकारभावनाम् आह—

अथापरामपि आह—

भावे न्यक्ते निरुद्धा चित् नैव भावान्तरं व्रजेत् ।

तदा तन्मध्यभावेन विकसत्यति भावना ॥ ६२ ॥

‘न्यक्ते’ अन्तर्हिते—अदृष्टे ‘भावे’ पदार्थे त्रिनेत्रचतुर्भुजाद्याकारे ध्येयवस्तुनि, ‘चित्’ चेतना ‘निरुद्धा’ अभ्यासपाटवेन नितरां रुद्ध्वा स्थापिता सती, ‘भावान्तरम्’ अन्यपदार्थं दृष्टदेहघटादिकं ‘नैव व्रजेत्’ । न्यक्तं—बुद्धितम्, तिरोहितम्—अन्तर्हितं इति वेदभाष्यकारः । ‘न्यक्तम्’ इति छान्दसः प्रयोगः । ‘भावे—व्यक्ते’ इति पाठे तु अकार-प्रश्लेषेणापि ‘अव्यक्ते’ इति पूर्वोक्त एव अर्थः । एवं सालम्बनध्यान-योगे अपि

‘ध्यातृध्याने परित्यज्य क्रमाद् ध्येयैकगोचरम् ।

निवातदीपवच्चित्तं समाधिरभिधीयते ॥’

इति योगशास्त्रनीत्या ध्यातृध्याने विहाय, ध्येयनिरालम्बनशून्यमध्य-धामविश्रान्तेः उपेयत्वात्, ‘तयोः’ व्यक्ताव्यक्तयोः भावयोः ‘मध्य-भावेन’ न किञ्चिद्रूपमध्यधामविश्रान्त्या ‘भावना’ मध्यदशाविश्रान्ति-संस्कारः, अतिशयेन ‘विकसति’ उद्बोधम् आयाति, तेन व्यक्ताव्यक्त-भावद्वयादिमध्यान्तदशाव्यापकतद्द्वयैकानुसंधातृचिन्मात्ररूपमध्य-विश्रान्तिः भवेत् इत्यर्थः ॥ ६२ ॥

एकस्मिन् वस्तुनि स्वीकृते निरुद्धा चित् नैव भावान्तरं व्रजेत् अन्यद्वस्तुनि न व्रजेत्, तत्र तन्मध्ये शून्यरूपस्थित्या भावना अतिविकसति अद्भुतफुल्ल-न्यायेन मनश्चातिविकासत्वं यायात्—ब्रह्मैव संपद्यत इत्यर्थः ॥ ६२ ॥

पुनः शाक्तीं भूमिकाम् आह—

अनरामाह—

सर्वं देहं चिन्मयं हि जगद्वा परिभावयेत् ।

युगपच्चिर्विकल्पेन मनसा परमोदयः ॥ ६३ ॥

आ पादात् केशान्तं ‘सर्वं देहं चिन्मयं’ प्रत्यंशं चिदेकरूपम्, ‘युग-पत्’ अक्रमं ‘जगत् वा’ सर्वं ‘निर्विकल्पेन मनसा’ स्फुरन्चिच्चमत्कार-व्याप्त्या, परितः अन्तर्बहिश्च ‘भावयेत्’ ।

‘प्रकाशमानं न पृथक् प्रकाशात्, अन्यथा चेत्यमानत्वानुपपत्तेः ।’
इति न्यायात् प्रकाशः प्रकाशते इति भावयेत् ॥ ६३ ॥

आ नादात् केशान्तं चिद्रूपं सर्वमिदं जगत् परिभावयेत्, अक्रमेण च स्फुर-
च्चिच्चमत्कारव्याप्त्या मनसो गतिः परमा, उत्कर्षरूपा गतिरस्तीति
तात्पर्यम् ॥ ६३ ॥

अपरामाह—

वायुद्वयस्य संघट्टादन्तर्वा दन्तर्वा बहिरन्ततः ।
योगी समत्वविज्ञानसमुद्गमनभाजनम् ॥ ६४ ॥

‘अन्तः’ हृदये, ‘बहिः’ द्वादशान्ते, ‘अन्ततः’ प्रवेशनिर्गमनयोः
पर्यवसाने प्राणापानसंघट्टं अनुल्लिखितभेदं निर्गमप्रवेशविनाकृतं
शून्यकल्पं ध्यात्वा [योगिनः] समदृष्टित्वं उदिद्यात् ॥ ६४ ॥

प्राणापानरूपस्य योजनात् हृदये द्वादशान्ते चान्तःप्रवेशनिर्गमने, पर्यवसाने
योगी प्रबुद्धः समत्वविज्ञानेन समुद्गमनभाजनं—रहस्यस्थानपर्यवसायिप्राणा-
पानादिगोचरः स्यादिति भावः, तेन च परममिद्विभागभवेदित्यर्थः ॥ ६४ ॥

अपरामाह—

सर्वं जगत्स्वदेहं वा स्वानन्दभरितं स्मरेत् ।
युगपन्स्वामृतेनैव परानन्दमयो भवेत् ॥ ६५ ॥

‘स्वानन्दभरितं’ त्यक्तविषयात्मानन्दं, ‘स्वामृतेनैव’ स्वानन्देन
भरितं स्वानन्दभरितं स्वकीयचिदानन्दपूर्णं ‘सर्वं’ चिन्तयेत् ।

‘पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥’

इति वाजसनेयब्राह्मणश्रुतेः । इह आश्यानचिद्रसरूपस्य जगतोऽपि
भासनात्

‘सर्वं देहं चिन्मयं हि..... ।’

इति पूर्वस्याः प्रकाशधारणायाः सकाशात् विशेषः ॥ ६५ ॥

‘आनन्दादेव खलु इमानि भूतानि जायन्ते आनन्दे प्रवर्तन्ते आनन्द एव
प्रलीयन्ते’ इति, इत्थं दृष्ट्या कृतकृत्यो भवेदिति भावः ॥ ६५ ॥

अपरामाह—

कुहनेन प्रयोगेन सद्य एव मृगोक्षणे ।

समुदेति महानन्दो येन तत्त्वं प्रकाशते ॥ ६६ ॥

‘सद्य एव’ विस्मयजनकः, ‘कुहनप्रयोगः’ अद्भुतमायाप्रयोगः, ऐन्द्रजालिकरचितमायीयोद्यान-तत्स्थितचित्रकुसुमवृक्षादितत्स्थस्वात्म-विहरणस्वाङ्गच्छेदन-पुनस्तत्संयोजनादि-अत्यद्भुतत्वजनककुहनप्रयोग-दर्शने योगिनो निर्विकल्पावस्था तत्क्षणमेव भवेत् इत्यर्थः ॥ ६६ ॥

विस्मापकाद्भुतमायादिप्रयोगेन अद्भुतप्रयोगमयः परमानन्दोदयः स्यादिति भावः ‘अहमेव परो हंसः’ इत्यादिकया युक्त्या पिपीलिकास्वप्नमात्रात् परमोदयव्याप्तिरिति शेषः ॥ ६६ ॥

अधुना प्राणापानगतिविच्छेदविधियोगाभ्यासकालेऽपि परमानन्दावाप्तिः स्वयमेव यदा भवेत् तदुपदेशम् आह—

अपरामाह—

सर्वस्रोतोनिबन्धेन प्राणशक्त्योर्ध्वया शनैः ।

पिपीलस्पर्शवेलायां प्रथते परमं सुखम् ॥ ६७ ॥

श्रोत्र-चक्षुर्नासा-मुख-गुह्योपस्थरन्ध्रनिरोधेन, आधारात् द्वादशान्तं यावत् ऊर्ध्वं क्रमेण वहन्त्या ‘प्राणशक्त्या’ द्वादशान्ते आत्मविषयानुभवसमये ‘पिपीलस्पर्शवेलायां’ पिपीलिकाया इव शनैः चरतः प्राणस्य यः ‘स्पर्शः’ जन्माग्रादिसकाशात् मूलकन्दादिस्थानस्पर्शः । तद्वेलायां हि योगिनः परीक्षन्ते—अमुतः स्थानात् उत्थाय अद्य अदः स्थानं प्राणः प्राप्तः इति । अत्र इयं योगशास्त्रप्रक्रिया श्रीभगवता पतञ्जलिना निगदिता

‘बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः

परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः ।’ (२ । ५०)

इति श्वासप्रश्वासयोः प्राणापानधर्मयोः या गतिः—पुरुषप्रयत्नम् अन्तरेण स्वाभाविकप्रवहणं, क्रमेण युगपच्च पुरुषप्रयत्नविशेषेण तस्या विच्छेदो निरोधः प्राणायामः । तस्मिन् सति

‘श्वासप्रश्वासयोः गतिविच्छेदलक्षणः प्राणायामः । (२।४९)

इति हि उक्तम् । बाह्यगतिनिरोधरूपत्वात् बाह्यवृत्तिः पूरकः, आन्तरगतिनिरोधरूपत्वात् आन्तरवृत्तिः रेचकः । कैश्चित्तु बाह्य-
शब्देन रेचकः, आन्तरशब्देन च पूरको व्याख्यातः, युगपत् उभयगति-
निरोधः स्तम्भः, तद्वृत्तिः कुम्भकः । तदुक्तं—‘यत्र उभयोः श्वास-
प्रश्वासयोः सकृदेव विधारकात् प्रयत्नात् अभावो भवति, न पुनः
पूर्ववत् आपूरणप्रयत्नौघविधारणम्, नापि रेचनप्रयत्नौघविधारणम्,
किं तु यथा तप्ते उपले निहितं जलं परिशुष्यत् सर्वतः संकोचम्
आपद्यते’—एवम् अयमपि मारुतो वहनशीलो बलवद्विधारकप्रयत्ना-
वरुद्धक्रियः शरीर एव सूक्ष्मभूतोऽवतिष्ठते, न तु पूरयति येन पूरकः,
न तु रेचयति येन रेचकः इति । त्रिविधोऽयं प्राणायामः ‘देशेन, कालेन,
संख्याया च परीक्षितो दीर्घसूक्ष्मसंज्ञो भवति’ यथा घनोभूतस्तूलपिण्डः
प्रसार्यमाणो विरलतया दीर्घः सूक्ष्मश्च भवति, तथा प्राणोऽपि देश-
कालसंख्याधिक्येन अभ्यस्यमानो दीर्घो दुर्लक्षतया सूक्ष्मोऽपि संपद्यते ।
तथाहि—हृदयात् निर्गत्य नासाग्रसंमुखे द्वादशांगुलपर्यन्ते देशे श्वासः
परिसमाप्यते, तत एव च परावृत्त्य हृदयपर्यन्तं प्रविशन्ती स्वाभाविकी
प्राणापानयोः गतिः, अभ्यासेन तु क्रमेण नाभेः आधारात् वा निर्ग-
च्छति, नासान्तश्चतुर्विंशत्यङ्गुलपर्यन्ते षट्त्रिंशदंगुलपर्यन्ते वा देशे
समाप्यते । एवं प्रवेशोऽपि तावान् अवगन्तव्यः । तत्र बाह्यदेशव्याप्तिः
निवाते देशे इषीकादिसूक्ष्मतूलक्रियया अनुमन्तव्या, अन्तरपि पिपी-
लिकास्पर्शसदृशेन स्पर्शेनानुमन्तव्या,—सा इयं देशपरीक्षा । तथा निमेष-
क्रियावच्छिन्नस्य कालस्य चतुर्थो भागः क्षणः, तेषाम् इयत्ता अवघा-
रणीया, स्वजानुमण्डलं पाणिना त्रिः परामृश्य छोटिकावच्छिन्नः कालो
मात्रा, ताभिः षट्त्रिंशन्मात्राभिः प्रथम उद्धातो मन्दः, स एव द्विगुणी-
कृतो द्वितीयो मध्यः, स एव त्रिगुणीकृतः तृतीयः तीव्रः इति । नाभि-
मूलात् प्रेरितस्य वायोविरिच्यमानस्य शिरसि अभिहननम् उद्धातः
इति उच्यते, सा इयं कालपरीक्षा । संख्यापरीक्षा च प्रणवजपावृत्ति-
भेदेन वा श्वासप्रवेशगणनया वा । यद्यपि कुम्भके देशव्याप्तिः न
अवगम्यते, तथापि कालसंख्याव्याप्तिः अवगम्यते एव । स खल्वयं
प्रत्यहम् अभ्यस्तो दिवसपक्षमासादिक्रमेण देशकालप्रचयव्याप्तितया
दीर्घः, परनैपुण्यसमधिगमनीयतया च सूक्ष्मः, प्राणस्य सूक्ष्मीभवनं

मनःप्रशान्तिप्रयोजनम्, मनःशान्त्या प्राणशान्तिः, प्राणशान्त्या विकल्प-
क्षयः इति कष्टयोगस्यापि निर्विकल्पदशाप्राप्तिः प्रयोजनम् इति
अलम् । तदेतदुक्तं—पिपीलस्पशंवेलायां देशकालादिपरीक्षया परानन्दा-
वाप्तिः इत्यर्थः ॥ ६७ ॥

पञ्चेन्द्रियगुह्योपस्थरन्ध्रनिरोधेन आधारात् द्वादशान्तं यावत् ऊर्ध्वं
क्रमेण वहन्त्या प्राणशक्त्या

‘पिपीलिकास्पर्शमात्रात्प्रथते परमं सुखम्’

इत्येतद्भावतया अन्तर्मुखारामो भवतीत्यर्थः । द्वादशान्त आत्मविषयानुभवसमये
पिपीलिकाया इव शनैः शनैः चरतः प्राणस्य यः मूलाधारादिस्थानसकाशात्
कन्दादिस्थानपर्यन्तः स्पर्शः, तद्वेलायां हि परीक्षन्ते योगिनः ‘अमुतः स्थानात्
उत्थाय अमुकस्थानं प्राप्तः प्राणः’ इति निश्चितमेव, इत्येतादृशोक्तभावनयोर्दृष्ट-
सुखसिद्धिरिति भावः ॥ ६७ ॥

मध्यविकासकारणं शक्तिसंकोच-शक्तिविकासोपायम् आह—

अपरामाह—

वह्नेर्विषस्य मध्ये तु चित्तं सुखमथं क्षिपेत् ।

केवलं वायुपूर्णं वा स्मरानन्देन युज्यते ॥ ६८ ॥

अनुप्रवेशक्रमेण संकोचभूमिः वह्निः, नासापुटोर्ध्वस्पन्दनक्रमोन्मि-
षत्सूक्ष्मप्राणशक्त्या भ्रूभेदनक्रमासादितोर्ध्वकुण्डलिनीपदे तद्विश्रान्ति-
रूपसंकोचस्थानं विषस्थानं प्रसरयुक्त्या विकासपदम् । अधः कुण्ड-
लिन्यां षष्ठवक्रगुह्याधाररूपायां प्राणशक्तिं प्रगुणीकृत्य, प्रसररूपो
विकासः तन्मूल-तदग्र-तन्मध्यभूमिस्पर्शविशः । अनयोः वह्निर्विषयोः
मध्ये—मध्यनाड्यां सृष्टिग्रन्थिभूतायाम् आनन्दमयं मनः भावनया
क्षिपेत्—चिन्तयेत् । वायुनिर्गमप्रवेशधारणां विहाय मध्यभूते उन्मेष-
भट्टारके तन्निर्गमप्रवेशकारणे तद्व्ययैकानुसंधात्रात्मके तद्व्यारणया
आनन्दमयं चित्तं क्षिपेत् । केवलम् आरोहावरोहविषयसम्बन्धरहितं
वायुपूर्णं च मध्यनाडीस्थिताक्रमोच्चारानन्तकलात्मकप्राणशक्तिभरितं
च । ततः स्मरानन्दमयो भवेत्, स्मरानन्देन कामानन्देन युज्यते ।
सर्वविषयविस्मारकारणत्वात् कामानन्दस्य आनन्दान्तरेभ्यः
परत्वम् ।

यद्वा, वह्निः मेढ्रात् ऊर्ध्वं नाम्यधोऽङ्गुलानां चतुष्टये अग्निर्नामि
पवनाधारः षोडशपवनाधारमध्ये गणितः । विषनामा पवनाधारो
मेढ्रमध्ये ज्ञेयः । तयोः पवनाधारयोर्मध्ये सुखमयचित्तनिक्षेपणम् ।
श्रुतमतप्रकारैव भावना कर्तव्या इति हि योगिसंप्रदायः । ततः कामा-
नन्दावाप्तिः । षोडशाधास्तु कुलाम्नाये कथिताः

‘मेढ्रस्याधः कुलो ज्ञेयो मध्ये तु विषसंज्ञितः ।
मूले तु शाक्तः कथितो बिन्दुनादप्रवर्तकः ॥
अग्निसंज्ञस्ततश्चोर्ध्वमङ्गुलानां चतुष्टये ।
नाभ्यधः पवनाधारो नाभावेव घटाभिधः ॥’

इत्यादि । इयं स्थानध्यानाश्रया आणवी भूः ॥ ६८ ॥

तद्वारणया सुखधारणया बह्वौ वा विषेऽपि कठिनतरे च सुखभावनयैव
चित्तं क्षिपेत्, प्राणस्य वा अपानस्य च मध्येऽपि, कामानन्दे सर्वविषयविस्मारके
न युज्यते, कामधारणायां सर्वविषयविस्मरणात्, अथ वा वायुपूर्णं केवलं
प्राणायामवर्जितमपि, तत्रापि भेदगलनेन अभेदापत्तिरिति भावः । यस्मात्
दुःखे वह्निविषादौ सुखसंधारणमेव परमार्थ इति परमार्थविदः । स्त्रीसङ्गेन
विना स्त्रिया य आनन्दानुभवः स एव परमार्थ इति कथ्यते ॥ ६८ ॥

अपरामाह—

शक्तिसंगमसंक्षुब्धशक्त्यावेशावसानिकम् ।

यत्सुखं ब्रह्मतत्त्वस्य तत्सुखं स्वाक्यमुच्यते ॥ ६९ ॥

शक्तिसंगमः स्त्रीसंगः, तेन संक्षुब्धः संप्रवृत्तः, शक्त्यावेशः आनन्द-
शक्तिसमावेशः, तदावसानिकं तत्पार्यन्तिकम् ।

‘न सृष्टिर्जायते लिङ्गाच्च भगाच्चापि रेतसः ।

आनन्दोच्छलिता शक्तिः सृजत्यात्मानमात्मना ॥’

इति उक्तरीत्या स्त्रीसंगानन्दाविर्भूतानन्दशक्तिसमावेशान्ते यत्
घण्टाघनुरणनरूपं ब्रह्मतत्त्वस्य सुखं परब्रह्मानन्दः, त्यक्तस्त्रीपुरुषद्वैत-
पर्यालोचनं स्वात्ममात्रनिष्ठम्, तत् सुखं स्वकमेव स्वाक्यम् (स्वार्थे
ष्यङ् चातुर्वर्ण्यत्रैलोक्यादिवत्) आत्मन एव सम्बन्धि, न अन्यत
आयातं भावयेत् । स्त्रीसंगस्तु अभिव्यक्तिकारणमेव, यतः स्वक एव

स आनन्दः, ततश्च स्त्रीसङ्गेन य आनन्दः अनुभूयते तामेव स्त्रियं
ध्यात्वा आनन्दमयो भवेत् इति भावः । उक्तं च

जायया संपरिष्वक्तो न बाह्यं वेद नान्तरम् ।

निदर्शनं श्रुतिः प्राह मूर्खस्त्वं मन्यते विधिम् ॥'

इति । विश्वस्फुरणशक्तिसंगमसंक्षुब्धा या चिच्छक्तिः तस्या य आवेशः
इति केचित् ॥ ६६ ॥

स्त्रीसङ्गेन य आनन्दोऽनुभूयते तमेव स्त्रियं विना ध्यात्वा आनन्दमयो
भवेदित्याद्युक्तम् । उक्तं च

‘जायया संपरिष्वक्तो न बाह्यं वेत्ति चान्तरम् ।

निदर्शनं श्रुतिं प्राह मूढस्तं मन्यते परम् ॥

न सृष्टिर्जायते लिङ्गाच्च भगान्नापि रेतसः ।

आनन्दोच्छलिता शक्तिः सृजत्यात्मानमात्मना ॥’

इत्याद्युक्तीत्या स्त्रीसङ्गानन्दाविर्भूतानन्दशक्तिसमावेशान्ते यत् सुखं स्त्रीपुरुषा-
दिपर्यालोचनं स्वात्ममात्रनिष्ठं । तत् स्वकम्—आत्मन एव सम्बन्धि नान्यत
आयातं भावयेत्, स्त्रीसङ्गमस्तु व्यक्तिकारणमेव, इत्यादिना प्रोक्तं चान्यत्र,
अलं चातिविस्तरेण ॥ ६६ ॥

अपरामाह—

लेहनामन्थनाकोटैः स्त्रीसुखस्य भरात्स्मृतेः ।

शक्त्यभावेऽपि देवेशि भवेदानन्दसंप्लवः ॥ ७० ॥

लेहनं वत्क्रासवास्वादनं, परिचुम्बनं इति यावत् । मन्थनं प्रधान-
नाङ्गविलोडनम् आलिङ्गनं वा । आकोटः पुनःपुनर्मर्दनम् नखक्षतादिः
वा । शक्त्यभावः स्फुटस्त्र्यादीनां कारणानामभावः । शक्त्यभावेऽपि
इत्यनेन स्वकीय एव स आनन्दः तत्सम्मुखीभावेन आयातो, न पुनः
तत्र स्त्री कारणम् इति स्वमेव आत्मानं सानन्दमयं ध्यायेत् इत्यर्थः ।
लेहनाद्यैः स्त्रीसुखस्य स्मरणभरात् आनन्दः इति । भरात् स्मर्यमाणो
हि स स्पर्शः तत्स्पर्शक्षेत्रे च मध्यमाकृत्रिमपराशक्तिनालिकाप्रति-
बिम्बितः उन्मुखशाक्तस्पर्शभावेऽपि तदन्तर्वृत्तिशाक्तस्पर्शात्मकवीर्य-
क्षोभकारी भवति इति अभिनवगुप्तपादाः ॥ ७० ॥

परिबुम्बनालिङ्गनदन्तक्षतनखक्षतादिभिविशेषैः स्त्रीसुखस्यानुभूतस्य पूर्वं
तद्वचनमात्रेण इदानीमपि शक्त्यभावेऽपि करसौन्दर्यादौ ध्यातमात्रेण य आनन्दः
प्रत्यक्षतयैव सर्वविषयविस्मारकः स एवानन्दोदय इति स्थितम्, यतोऽनुभूते
स्मरणं प्रत्यक्षतयैव प्रसिद्धमित्याचार्याः ॥ ७० ॥

अपरामाह—

आनन्दे महति प्राप्ते दृष्टे वा बान्धवे चिरात् ।

आनन्दमुद्रतं ध्यात्वा तल्लयस्तन्मना भवेत् ॥ ७१ ॥

स्फुटस्त्र्यादिशक्तिभावे सति महानन्दप्राप्तिः इत्यर्थः । दारिद्र्या
द्युपद्रुतस्य कस्यचिद् अनन्तनिष्कण्टककोशप्राप्तेः महान् आनन्दः
तस्मिन् प्राप्ते सतीत्यर्थः । चिरकालं प्रवासात् आगते इष्टे बान्धवे
पुत्रमित्रादौ प्राप्ते सति आनन्दम् उद्गतं ध्यायेत्, उद्गतमात्रमेव
गृहीत्वा तद्वचनान्तर्भनस्कत्वेन आनन्दे एव विश्रान्तः स्यात् इत्यर्थः ॥

एवमेव, बान्धवे वा सुहृदादौ चिरकालानन्तरं प्रिये वा दृष्टे उद्गतमात्र-
मेवानन्दं गृहीत्वा तद्भावनान्तर्भनस्कत्वेन परानन्दोदये विश्रान्तः स्यादेवेत्यर्थः ।
तथा च स्पन्दे—

‘अतिक्रुद्धः प्रहृष्टो वा किं करोमीति वा मृशन् ।

धावन्वा यत्पदं गच्छेत्तत्र स्पन्दः प्रतिष्ठितः ॥

इत्यादिना अभिहितमस्ति ॥ ७१ ॥

अपरामाह—

जग्धिपानकृतोऽल्लासरसानन्दविजृम्भणात् ।

भावयेद्भरितावस्थां महानन्दस्ततो भवेत् ॥ ७२ ॥

क्षुदतिशयनिवर्तकयत्किञ्चिन्मात्रभक्ष्यादिभक्षणं जग्धिः, पिपा-
सातिशयनिषेधकशीतलजलादेः मधुरक्षीरादेर्वा आस्वादनं पानं, ताम्यां
प्रतिग्रासं प्रतिसिक्तं प्रतिबिन्दुतुष्टिपुष्टिक्षुन्नित्ववृत्त्याख्यकार्यत्रयहेतुभ्यां
कृता ये उल्लासरसानन्दाः, करचरणादीनां स्वाङ्गानां स्पर्शनादि-
विमर्शनेन उच्चैः द्योतनम् उल्लासः, सर्वासु स्थूलसूक्ष्मगर्भनाडीषु
शुष्कताया अभावे स्नेहार्द्रतालक्षणो रसः, भोजनाद्यभावे हि नाडीनां

रूक्षता जायते, तद्भावे तु रसवितननम्, तदनन्तरम् आनन्दः, अहं-
विमर्शसंचेतनं रसरूपो वा आनन्दः इति वा ।

‘रसो वै सः रसं ह्योवायं लब्ध्वानन्दी भवति ।’

इति श्रुतेः, तस्य ‘विजृम्भणात्’ सर्वगात्रविषयविकसनात् हेतोः स्वेद-
पूर्णतादशां भावयतो महानन्दप्राप्तिः इत्यर्थः । ये तु रसनीयवीरद्रव्य-
पानावदंशचर्वणादिना आनन्दविकासात् भरितावस्थाम् अभिदधति,
तत्र अत्युन्मादविधायिभावकवलने स्वानन्ददशावमर्शनविषये सहृदया
एव प्रमाणम् इति त एव प्रष्टव्याः,—तादृग्दशायां तत्त्वचिन्ता किम्
अस्ति इति । यदि पुनः तत्रापि तेषाम् अवहितचित्तत्वं भवेत् तर्हि
तेऽतिधन्याः सर्वपूज्याः सर्वनमस्कार्या महाचाराः इति तान् न निन्देत्,
किं तु नमस्येत् ।

‘न निन्देदथ वन्देत् वीरद्रव्यपराक्षरान् ।’

इत्युक्तेः ॥ ७२ ॥

अयमत्राशयः—मिष्टान्नपानभोजनक्षीरादिपानाशनाभ्याम् उल्लसद्रसो
य आनन्दस्तदनुभवेन आनन्दपूर्णत्वावस्थायां भावयत एकाग्रचित्तस्य परमा-
नन्दप्राप्तिरिति सिद्धम् ॥ ७२ ॥

अपरामाह—

गीतादिविषयास्वादासमसौख्यैकतात्मनः ।

योगिनस्तन्मयत्वेन मनोरूढेस्तदात्मता ॥ ७३ ॥

गीतं गायनं—ऊर्ध्वमध्याधोग्रामत्रयस्थस्वरवृत्त्या उच्चारणं
हालाकपाठकनिर्वर्तितं शब्दनम् इति यावत्, आदिशब्देन स्पर्शरूप-
रसादिग्रहणम्, तेन शब्दादिविषयाणां यत् आस्वादनं श्रवणेन्द्रिय-
वृत्त्याऽङ्गीतशब्दग्रहणं तच्चमत्करणम्, एवम् अतिसुन्दररूपवद्दर्शन-
चमत्कारः, तथा मधुरादिरसचर्वणास्वादः, तस्मात् हेतोः यत् असमं
अनुपमं—स्वानुभवगम्यं सौख्यम्, तेन या एकता, तद्रूपः आत्मा यस्य
योगिनः, तस्य मनोरूढेः हेतोः यत् तन्मयत्वं—शाक्तस्पर्शविशः, तेन
हेतुना तदात्मता—परब्रह्ममयत्वापत्तिः । एषापि शांभवी भूः ॥ ७३ ॥

गीतादिविषयस्य वंशवीणादेर्मधुरसूक्ष्मशब्दविषयस्य आस्वादात् तच्च-
र्वणाद्यः परमानन्दोदयः स्यात् तालक्रियाशब्दादिसाम्यं स एव परपरमा-

नन्दोदय इति कथ्यते, तत्काले शुभाशुभचिन्तादिविस्मरणादित्यलम् । अनेन च वेद्यराशेर्विस्मरणात् वेदकसत्तामात्रस्थितौ शान्तमेयमानादिव्यापृतौ महानन्दोदय इति निश्चितम् ॥ ७३ ॥

अपरामाह—

यत्र यत्र मनस्तुष्टिर्मनस्तत्रैव धारयेत् ।

तत्र तत्र परानन्दस्वरूपं संप्रवर्तते ॥ ७४ ॥

मनस्तुष्टिः इति मनसः प्रमोदः, न तु मनःक्षोभो वक्ष्यमाणः । यस्मिन् यस्मिन् वस्तुनि मनोहरे कामिनीवदनकमलादौ मनः सज्जते, तत्रैव धारयेत् स्थिरं कुर्यात् मनः, न तु मनोनियमनम् अकृत्वा नानाविधविकल्पक्षोभैः स्वात्मानं योगारूढत्वदशाया अधः पातयेत् । मनसो धारणमपि इत्थं कामादिक्षोभं प्रशमय्य, अत्र नितम्बिनीसुन्दरकायमन्दिरे 'चिदानन्दात्मकः शिवोऽहम् अस्मि, ममेव इयं भङ्गिः' इति यथाशक्ति, न पुनः केवलकामपरतन्त्रतया करचञ्चत्कुचपरपश्मिर्दनपेशलकोमलकुन्तलकर्षणललनाविरचितचक्षुःकूणन-बाहूद्धनन-सीत्कृति-बोधन-त्वरितसभाजन-मानन-स्वरचितवेणीग्रहण-वशीकृतपश्चात्-ग्रीवानवरतप्रेङ्खोलनसंदर्शन-प्रसृतोत्क्षेपण-करनखलेखन-रदनोद्धतितमञ्जुकपोलद्वन्द्वोच्चुम्बन-सक्थिश्लेषण-स्वप्रोथद्वयपृथुलविघट्टन-श्यामारक्ताधरभवषष्ठवर्णप्लुतसंबोधन-दीपितमन्मथवह्न्युद्विक्तप्रजननतेजन-यष्टि-प्रक्षेपणसंघट्टन-रेतःसिञ्चनपर्यन्तक्षोभविधानेन आत्मानं गते पातयेत् । यदुक्तम् अत्रैव अग्रे—

‘कामक्रोधलोभमोहमदमात्सर्यगोचरे ।

बुद्धिं निस्तिमितां कृत्वा..... ॥’

इति कामादिक्षोभं स्वात्मनि प्रशमय्य, एकाग्रं निश्चलां मतिं विधाय, तत् तत्त्वं सामान्यस्पन्दात्मकं प्रत्यवग्रष्टुम् अवशिष्यते इति भावः । तत इह मनस्तुष्टिः इति मनो नियच्छेत् इति च सूक्तम् । अन्यथा तु तत्रभवज्जगद्गुरुवासुदेववचनव्याघातापत्तेः । यथा—

‘त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।

कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः ।
 आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥'
 (गीता अ० १६ श्लो० २१-२२)

इति । तथा—

‘यदा क्षोभः प्रलीयेत तदा स्यात्परमं पदम् ।’ (१।६)

इति स्पन्दोपदेशानर्थक्यापत्तेश्च । रूपातिशयं दृष्ट्वापि स्वशक्त्यनु-
 सारेण पूतः असक्तो भवेत्, न तु अपवित्रः । मुमुक्ष्वभिप्रायेण अयम्
 अर्थो निर्वाहितः । मुक्तानां तु एवंविधक्षोभकल्लोलोदयदशा नैव
 भाविनी, तेषां समाधिषट्कपरिपाकलब्धनित्यसमाधिसाक्षात्कारः ।
 समाधिषट्कलक्षणम् अग्रे व्याख्यास्यामः । सप्तमश्च नित्यसमाधि-
 साक्षात्काररूपः । समाधिश्च व्याख्यास्यते, एतदभिप्रायेण अग्रे वक्ष्यति—

‘यत्र यत्र मनो याति बाह्ये वाभ्यन्तरेऽपि वा ।

तत्र तत्र शिवावस्था व्यापकत्वात् क यास्यति ॥’

तथा—

‘चलित्वा यास्यते कुत्र सर्वं शिवमयं यतः ।’

इति ।

‘देहेऽपि विस्मृते यस्य चिद्विमर्शस्य भावनात् ।

महात्मनो विरक्तस्य भोगासङ्गो न रोचते ॥’

इति उक्तत्वात् देहाभिमान एव भोगासक्तिजनकः, मुक्तस्य तु तद-
 पायात् भोगविषयारुचिरेव, यदि कदाचित् तस्यापि प्रारब्धकर्मशेष-
 वशात् जातु अपि संभवेत्, तत् कादाचित्कमेव जगति, न तु सर्वत्र
 प्रायिकम् इति न कश्चित् दोषः ॥ ७४ ॥

अयमत्र भावः—यत्र यत्र पञ्चेन्द्रियादिगुणेषु मनो रज्यते एतच्छुभमेतद-
 शुभम् इत्यादिना तत्रैव शुभे वाशुभे विश्रान्तः सन् परपरानन्दमयः स्यात्
 इति निश्चयः । यत्र शुभे वाशुभे मनो लगति तत्समये परविमर्शविस्मृतेस्तत्रैवा-
 नन्दोदय इति निश्चयः ॥ ७४ ॥

अपरामाह—

अनागतायां निद्रायां प्रणष्टे बाह्यगोचरे ।

सावस्था मनसा गम्या परा देवी प्रकाशते ॥ ७५ ॥

अनागतायां निद्रायां—चित्तवृत्तेः तमश्छादने, बाह्ये च विषय-
पञ्चके विनष्टदर्शने, या अवस्था निरावरणा मध्येऽस्ति, सा मनसा
गम्या—स्वसंविदवष्टम्भस्वीकार्या, तथा सति सैव परादेवीत्वेन भाति
इति एषापि शांभवी भूः ।

तथा च वासिष्ठे दर्शने—

‘निद्रादौ जागरस्यान्ते यो भाव उपजायते ।

तं भावं भावयन्साक्षादक्षयानन्दमश्नुते ॥’

इति ॥ ७५ ॥

निद्रा जागरणरूपोन्मगनावस्था परावस्थेति कथ्यते, सैव च स्फुटीकरणा-
वस्था चित्तेरिति हि स्थितम् । तथाहि—

‘निद्रादौ जागरस्यान्ते यो भाव उपजायते ।

तं भावं भावयन्साक्षादक्षयानन्दमश्नुते ॥’

इत्यादिना निरूपितमस्ति ॥ ७५ ॥

बाह्यसूर्यादितेजश्छुरिताकाशालम्बनाम् आणवीं ध्यानभूमिम्
आह —

अपरामाह—

तेजसा सूर्यदीपादेराकाशे शवलीकृते ।

दृष्टिर्निवेश्या तत्रैव स्वात्मरूपं प्रकाशते ॥ ७६ ॥

दिवसे ऊर्ध्वाधःस्थबाह्यमहाकाशे दिनातपप्रकाशेन कर्बुरीभूते,
रात्रौ चन्द्रज्योत्स्नया शवले चन्द्रमण्डलान्तः तद्बाह्ये च महाकाशे,
तथा गृहैकदेशस्थदीपमण्डलान्तर्बहिर्व्यापके कोष्ठाकाशे,—तज्ज्वा-
लाप्रकाशेन चित्रे दृष्टिं बद्ध्वा निर्निमेषदृष्टिबन्धनसतत्त्वसंयमात्
स्वात्मरूपं—स्वस्वरूपं सर्वं भुवनजातं चिद्वधनाकारं ज्ञानदृष्ट्या
पश्यति । तथाहि आह भगवान् पतञ्जलिः—

‘भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात्’ (पा० ३ सू० २५)

‘चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम्’ (पा० ३ सू० १६)

इति । तेजश्छुरितत्वं विना केवलेनिर्मलाकाशमात्रालम्बनम् । दृष्टि-
बन्धनं तु अग्रे वक्ष्यति—

‘आकाशं विमलं पश्यन् कृत्वा दृष्टिं निरन्तराम् ।’

इति । यद्वा सूर्यादिसंयमकालेऽपि स्वस्वरूपचिदाकाशैकीभाव एव स्वात्मरूपप्रकाशनम्, तदेव हि मुख्यं फलम् उपादेयतमत्वात्, भुवनादि-ज्ञानं तु अवान्तरफलं धारणायाः, इत्यलम् ॥ ७६ ॥

दिवा सूर्यकिरणप्रकाशेन रात्रौ च चन्द्रज्योत्स्नया शबलीभूतमहाकाश-सम्बन्धयूष्वाधोवर्तिस्थानविशेषे, गृहैकदेशवर्तिदीपप्रकाशव्याप्तकोष्ठाकाशचित्र-स्थाने वा अव्यग्रमनस्कतया दृष्टिवन्धमभ्यस्यतः स्वस्वरूपचिदाकाशैकीभावेन स्वात्मरूपाभिव्यक्तिर्जायते, यत्फलं चतुर्दशभुवनज्ञानं ताराव्यूहपरमनोभावा-भिज्ञानं च समुत्पद्यते इति ॥ ७६ ॥

अपरामाह—

करङ्किण्या क्रोधनया भैरव्या लेलिहानया ।

खेचर्या दृष्टिकाले च परावर्तिः प्रकाशते ॥ ७७ ॥

करङ्किण्या—विगतचेष्टं करङ्कमात्रं शवमिव विश्वं पश्यन्त्या, क्रोधनया—क्रोधव्यग्रया, भैरव्या—दृक्शक्त्या, लेलिहानया—भोक्तु-मेकाग्रया, खेचर्या—दूरम् आकाशदर्शनार्थं प्रसृतया मुद्रया उपलक्षिते दृष्टिसमये परादेवीप्रकाशनम्, श्रीव्योमेशी-वामेश्वरी-इत्यादिशब्द-वाच्यायाः निष्कलादेव्याः सात्म्यम् । पाञ्चभौतिकं शरीरं परमाकाशे या विश्रामयति सा करङ्किणी इति ज्ञानसिद्धानां मुद्रा, चतुर्विंशति-तत्त्वकं मान्त्रे वपुषि या क्रोडीकरोति सा क्रोधिनी इति मन्त्रसिद्धानां मुद्रा, स्वस्मिन् या सर्वं संहरते सा भैरवी इति मेलापसिद्धानां मुद्रा, पूर्णत्वेन या सर्वं पुनः पुनः आस्वदते सा लेलिहाना इति शाक्तसिद्धानां मुद्रा, शक्तिव्यापिन्यादिषु खेषु सदा चरति या सा खेचरी इति सा शांभवसिद्धानां मुद्रा । तदुक्तम्—

‘करङ्किणी क्रोधिनी च भैरवी लैलिहानिका ।

खेचरी चेति मुद्रा याः पञ्चात्मकतया स्थिताः ॥

यो ज्ञानमन्त्रमेलापशाक्तशांभवभेदतः ।

क्रमस्तस्य यथा संख्यमेताभिः सर्वथान्वयः ॥’

इति । करङ्को—देहः, करङ्कानुभवात् करङ्किणी । स्वात्माधारसंभवात्

क्रोधिनी । स्वरूपसंहरणात् भैरवो । वासनात्मकपुन्यंष्टकविलापनात्
लेलिहाना । निरावरणत्वेन बोधगगनस्वरूपप्रतिष्ठानात् खेचरो ।

‘इयं सा परमा मुद्रा ह्यापातालाच्छिवावधि ।

तर्पयित्वा जगत्सर्वं निजसंस्थानतः स्थिता ॥’

इति । निष्क्रियानन्दनाथस्तु कराङ्कित्या इति पठति—यथा

‘कराख्योदशाकाराः सर्वाक्षक्षोभवृत्तयः ।

अङ्कं तु निर्निक्केतायाः संविदो देहविस्तरः ॥

एतत्कराङ्कमाख्यातं तस्य ग्रासादनावृत्तम् ।

निष्करङ्कं समुद्दिष्टं निरालम्बं परं वरम् ॥’

इति । एतद्विस्तरस्तु यथा—प्रथमनभःसमुद्रात् महाकौलात् अकुलरूपिणी
या शक्तिलहरी परेण रूपेण गदिता, सैव सूक्ष्मेण रूपेण अकुलात् कुल-
पञ्चकरूपतया क्रमेण आश्रयानतां प्राप्ता सती एकैव श्रीव्योमेश्वरी,
निष्कलापि सकलस्वरूपेण रमणशीला त्रिजगति वृन्दचक्रपर्यन्ते सदैव
आद्या सर्वकालं स्फुरति, स्फार्यमाणापि एकैव स्थिता, सैव ईषद्विक-
स्वरत्वेन परमनभःसमुद्रात् मयूराण्डरसवत् खेचर्यादिचतुष्टयं गर्भी-
कृत्य प्रथमतरस्पन्दरूपा लहरी श्रीवामेश्वरी प्रसूता, इयमेव आदि-
कोटिः, दिव्यौघचक्रपञ्चकस्फारिणी वृन्दचक्रनायिका श्रीवामेश्वरेव
सर्वं सर्वात्मकम्—इतिन्यायात् वृन्दचक्रे पञ्चधा पातनिकाक्रमेण
शाम्भव-शाक्त-मेलाप-मन्त्र-ज्ञानभेदात्मकेन श्रीवामेशी-खेचरी-भूचरी-
संहारिणी-रौद्रचधिष्ठितेन चतुःषष्टियोगिनीरूपा । ताश्चतुः-
षष्टियोगिन्योऽभेदेन यत्र वर्तन्ते सा रौद्रेश्वरीभूमिगता पञ्चषष्टितमा
सर्वमङ्गलमङ्गला राज्ञी भगवती, सैव परधाराधिरूढा सामरस्यभूः ।
तद्यथा—आदिवर्णस्वराः षोडशस्वरत्वेन ज्ञानमिद्धाः, कादि-मकार-
पर्यन्तं व्यञ्जनपञ्चविंशकं मन्त्रसिद्धाः, द्वादशधा स्वरव्यञ्जनमिश्रिता
मात्राः प्रणवकला वा मेलापसिद्धाः, यकारादि हकारपर्यन्तम् अष्ट
शाक्तसिद्धाः, आदिवर्णस्य रौद्रचन्ताः कलाः चतस्रः शांभवसिद्धाः ।
ता इत्थं कथिता रहस्यशास्त्रे—

‘आदौ यस्य शिरो रौद्री वक्रं वामा प्रकीर्तिता ।

अम्बिका बाहुरित्युक्ता ज्येष्ठा चैवायुधे स्थिता ॥’

इत्यादिना । आदिवर्णः चतुःषष्टिधात्वेन ज्ञानमन्त्रमेलापशाक्त-
शांभवसिद्धानां वाच्यानां वाचकत्वेन अन्तः परामर्शयति । इत्थं वृन्दचक्रं
वर्णक्रमेण प्रतिपादितम् । संवित्क्रमस्तु श्रीवामेश्या अक्रमेण प्रत्यावृत्त्या

‘ज्ञानं स्वकौलार्णवमूर्तिरूपं

स्वबोधविश्रान्तिविमर्शमन्त्रः ।

मेलापसिद्धाः स्वविमर्शशून्यं

शाक्तं महासंहतिं शांभवं स्वम् ॥’

इति सिद्धयोगिनीसंप्रदाययुक्त्युपदेशः । वृन्दचक्रनिर्णयस्तु बहुधा
भट्टारककृतप्राकृतत्रिशकाविवरणे विचार्यः इत्यलम् ॥ ७७ ॥

विगतचेष्टं करङ्कुमात्रं शवमिव विश्वं पश्यन्त्या, क्रोधव्यग्रया, दृक्-
शक्त्या, भोक्तुमेकाग्रया वा, दूरसाकाशदर्शनार्थं प्रसृतया वा, दृष्टिकाले परा
व्याप्तिः प्रकाशत इति भावः ॥ ७७ ॥

अपरामाह—

मृद्वासने स्फिजैकेन हस्तपादौ निराश्रयम् ।

निधाय तत्प्रसङ्गेन परा पूर्णा मतिर्भवेत् ॥ ७८ ॥

कोमले चैलाद्यासने स्थितस्य एककटीप्रोथेन उपलक्षितस्य, निरा-
धारं यथा भवति तथा हस्तपादौ च कृत्वा तादृगासनप्रकृष्टतरस्थित्या
सर्वाङ्गेषु प्रत्यंशं साकल्येन चेतयन्ती, विगलिततमोरजस्का सात्त्विकी
मतिर्भवेत् । इयम् आणवी भूः ॥ ७८ ॥

निराश्रये यथा भवति तथा पादौ हस्तौ च कृत्वा सर्वाङ्गेषु प्रत्यंशसाकल्येन
चेतयन्ती विगलिततमोरजस्का सत्त्वमयी भवेद्बुद्धिरिति तात्पर्यार्थः । मृद्वासने
कोमलासने कटिप्रोथैकेन । कठिनासने उपवेशनेन हि तुङ्गकुब्जाद्युपाधेः
समाधिचाञ्चल्यापत्तिरिति हि स्थितम् ॥ ७८ ॥

अपरामाह—

उपविश्यासने सम्यक् बाहू कृत्वार्धकुञ्चितौ ।

कक्षव्योम्नि मनः कुर्वन् शममायाति तल्लयात् ॥ ७९ ॥

अर्धकुञ्चितौ—सासिकुञ्चितौ । कक्षव्योम्नि—उभयकक्ष्याकाशे ॥

आसने उपविश्य बाहू कक्षव्योम्नि संकुचितौ कृत्वा तल्लयेन शम-
मायाति ॥ ७९ ॥

भैरवीं भूमिम् आह—

अपरामाह—

स्थूलरूपस्य भावस्य स्तब्धां दृष्टिं निपात्य च ।

अचिरेण निराधारं मनः कृत्वा शिवं व्रजेत् ॥ ८० ॥

स्थूलरूपस्य—घटदेहादेः, स्तब्धाम्—निरुन्मेषनिमेषां, दृष्टिं
निपात्य, च—शब्दात् अन्तर्लक्ष्यां च कृत्वा, निराधारम्—परिहृत-
विकल्पं यथा भवति तथा कृत्वा ॥ ८० ॥

विनोन्मेषनिमेषाभ्याम् अत एव स्तब्धां दृष्टिमवष्टभ्य मनोनिराधारं
कृत्वा किञ्चिदप्यचिन्तयन् शिवम्—परमात्मैक्यतां व्रजेदिति भावः ॥ ८० ॥

अपरामाह—

मध्यजिह्वे स्फारितास्ये मध्ये निक्षिप्य चेतनाम् ।

होच्चारं मनसा कुर्वस्ततः शान्ते प्रलीयते ॥ ८१ ॥

मध्ये—अन्तराले एव, जिह्वा यस्य, ईदृशे विस्फारिते आस्ये सति,
संकुचितमुखमध्ये बुद्धिं निक्षिप्य, होच्चारम्—अनच्छहकारमात्रोच्चा-
रम्, मनसैव कुर्वन् शान्तो भवेत् । उच्छ्वासे हं, निःश्वासे सः ।

‘सकारेण बहिर्याति हकारेण विशोत्पुनः ।’

इति उक्तनीत्या अस्यां खेचरीमुद्रायां सकारस्य बहिर्निगमनाभावात्
‘होच्चारम्’ इति उक्तम् । अत्र भ्रूमध्ये दृष्टिबन्धनं कृत्वापि इति
शेषः । यदुक्तं विवेकमार्तण्डे—

‘कपालकुदरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा ।

भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी ॥’

इति । भगवान् कृष्णद्वैपायनोऽपि आह—

‘स्पर्शान् कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः ।

प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥’

इत्यादि ॥ ८१ ॥

मध्य अन्तराल एव जिह्वा यस्य ईदृशे विस्तारिते चास्ये सति तन्मध्ये
बुद्धि निक्षिप्य मनसैव 'ह' इत्युच्चारं कुर्वन् शान्तात्मा प्रकाशत इत्यर्थः ॥८१॥

अपरामाह—

आसने शयने स्थित्वा निराधारं विभावयन् ।

स्वदेहं मनसि क्षीणे क्षणात् क्षीणाशयो भवेत् ॥ ८२ ॥

अजिन-कौशेय-चक्रालात-तूलपटी-मखमल्लशीतलपट्टमयोपधा-
नास्तरणशय्योत्तरच्छदसंवलनसमकालमेव आनन्दमयदशोद्भूतौ चित्ते
क्षीणे सति स्वदेहमपि निराधारं विभावयन्, स्वदेहावमर्शस्यापि
गलनात् आस्तरणाद्याश्रयरहितमेव स्ववपुर्विमृशन्, सद्य एव क्षीणा-
शयोनिर्वासितो भवेत् इत्यर्थः ॥ ८२ ॥

देहे, नैव आसने देहस्यापि निराधारभावनात्, शयने स्थित्वा 'नाहं
देहो न मे देहो' इति समानाधारभूतस्य नाधारादिकल्पना, इत्येवं परिकल्पनेन
क्षीणे मनसि गलिते वेद्यराशौ, भूताशयो भूतसिद्धार्थो भवेदिति सम्बन्धः ॥

अपरामाह—

चलासने स्थितस्याथ शनैर्वा देहचालनात् ।

प्रशान्ते मानसे भावे देवि दिव्यौघमाप्नुयात् ॥ ८३ ॥

अतिचञ्चले गन्त्रीगजतुरगादियानासने उपविष्टस्य तद्यानादि-
कृतदेहचलत्तया, यद्वा स्वयमेव शनैः देहचालनेन मनसः सत्तायां
प्रशान्तायां परमाकाशचिदानन्दप्रवाहाप्तिः ॥ ८३ ॥

चलासन अम्बादौ शनैर्देहचालनं कुर्वन्, प्राशान्ते च मनसे भावे, दिव्यानां
लोकानां परमयोगिनाम् ओषं समूहं संभूय तत्तेजस्तत्त्वमाप्नुयात् प्राप्नुयादिति
भावः ॥ ८३ ॥

अपरामाह—

आकाशं विमलं पश्यन् कृत्वा दृष्टिं निरन्तराम् ।

स्तब्धात्मा तत्क्षणादेवि भैरवं वपुराप्नुयात् ॥ ८४ ॥

निरन्तराम्-व्यवधानरहितां उन्मेषनिमेषाभावात् । स्तब्धात्मा-
निश्चलदेहः । शेषं निगदव्याख्यातम् ॥ ८४ ॥

अपरामाह—

लीनं मूर्ध्नि वियत्सर्वं भैरवत्वेन भावयेत् ।
तत्सर्वं भैरवाकारतेजस्तत्त्वं समाविशेत् ॥ ८५ ॥

‘लीनं गमयतोत्युक्तेर्लिङ्गनिर्वचनं यतः ।
हृदये ब्रह्मरन्ध्रे च वियल्लीनं परे पदे ॥
तदप्यन्तःकृताशेषसृष्टभावसुनिर्भरम् ।
भेदभावकमायीयतेजोशग्रसनाच्च तत् ॥
सर्वसंहारकत्वेन कृष्णं तिमिररूपधृत् ।’

इति मालिनीवार्तिकनोत्या सर्वं जगत् मूर्ध्नि मुख्यभूते हृदयब्रह्मरन्ध्रा-
ख्ये, वियत्—आकाशरूपं तिमिररूपं वा, अन्तःकृतसर्वभावपरिपूर्णम्,
सर्वसंहारकत्वात् कालरूपं च आकाशमयमेव चिन्तयेत्, तदनु तस्य
सर्वस्य भैरवाकृतिपरप्रकाशतत्त्वसमावेशः । सर्वस्य उक्तलक्षणकृष्णरूप-
त्वचिन्तनेन परप्रकाशात्मता अद्भुतं फलम् । तेजस्तत्त्वम्—चित्प्रकाश-
रूपं समाविशेत् अर्थात् योगी इति । एषा प्रागुक्तशून्यभावनाविकल्पना
आणवी भूः ॥ ८५ ॥

लीनं शिरुष्टं, सर्वं ‘यल्लीलपीतादि तत्सर्वं शिवमयम्’ इति भावयतो ब्रह्म
प्रकाशत इति भावः ॥ ८५ ॥

किञ्चिज्ज्ञातं द्वैतदायि बाह्यालोकस्तमः पुनः ।
विश्वादि भैरवं रूपं ज्ञात्वानन्तप्रकाशमृत् ॥ ८६ ॥

किञ्चि-मात्रं घटकुड्यादिकं ज्ञानविषयीकृतं भेदप्रथाप्रदं जाग्र-
दवस्थागोचरम्, तथा बाह्यानां पदार्थानां जाग्रत्संस्कारजातानाम्
आलोकः—प्रकाशः स्वप्नावस्थाविषयः, पुनः—भूयः, तमः—अज्ञानभोगः
सुप्तिस्थः, तथा एतदवस्थात्रयाभिमानि चेतन्यं विश्वादि, आदिशब्देन
तैजसप्राज्ञादीनां ग्रहणम् । अत्र इयं वेदान्तशास्त्रप्रक्रिया—मायाविद्या-
त्मकद्विप्रकारा गुणत्रयसाम्यावस्था प्रकृतिः, विशुद्धसत्त्वप्रधाना माया,
मलिनसत्त्वप्रधाना अविद्या, मायाप्रतिबिम्बितश्चिदात्मा अहम् इदं
सर्वं जानामि करोमि च इति सर्वज्ञत्वादिगुणाश्रय ईश्वरः, स च
एकः,—अहं कर्ता, अहं भोक्ता इत्यादि-अविद्याप्रतिबिम्बितः चिदात्मा,

तत्परतन्त्रो जोवः, स तु देवतिर्यगादिभेदेन अनेकः । आतिवाहिकाख्य-
लिङ्गशरीरविषयाहमभिमानिनो जीवाः, सुखी अहं, दुःखी अहं,
क्षुधितोऽहं, तृषितोऽहम्-इत्यादीन् अन्तःकरणधर्मान् स्वात्मनि
अध्यस्यन्तः तैजससंज्ञकाः । कारणशरीरशब्दवाच्याया अविद्यायाः
पृथक् पृथक् अहमभिमानिनो जीवाः प्राज्ञाः इत्युच्यन्ते । एकैकस्थूल-
शरीरगोचरस्थूलकृशत्वाद्यहमभिमानवतां तैजसानामेव विश्वसंज्ञा ।
उत्कलक्षणमायोपाधिमः परमेश्वरः सकलसूक्ष्मशरीरविषयाहमभिमानेन
हिरण्यगर्भसंज्ञः । अस्यैव सकलस्थूलशरीराहमभिमानेन वैश्वानरसंज्ञा ।
प्राज्ञानां तु अविद्याविषयाहमभिमानेन सुषुप्तौ भोगः, अविद्यायाः
तत उत्थाय, मूढोऽहम् आसम्, माम अहं न जानामि इत्यादिप्रत्य-
वमर्शः । परमेश्वरस्य पुनरेतेषां सर्वेषां प्राज्ञानाम् अहमेव कर्ता इति
तदध्यासेन अविद्याभिमानो, न तु साक्षात्-सर्वज्ञत्वादिधर्मकत्वात् ।
ईश्वरस्यापि प्रलयकाले योगनिद्राप्रसक्तिदशायां स्वान्तःकृता अविद्या
वासनारूपेण स्थितैव, अन्यथा कूटस्थदशायाः सकाशात् कर्तृत्वाद्य-
भिमानात्मिकाविद्यानिःसरणेन जीवदशाप्रादुर्भावः कथङ्कारं भवेत् ।
एतत् सर्वम्-विश्वतैजसादिप्रपञ्चजातं भैरवरूपं तुरीयस्वरूपं ज्ञात्वा
अनन्तप्रकाशरूपो भवेत् ।

‘सर्वं खल्विदं ब्रह्म ।’

इति श्रुतिरेतच्छ्लोकार्थेऽनुकूला ॥ ८६ ॥

आदौ भेदमयं ध्यात्वा ‘स्थाणुर्वा पुरुषो वा’ इति, ततश्च बाह्यश्चासा-
वालोक्तः चन्द्रसूर्यादिः, ततश्च तमः, एतत्सर्वं भैरवरूपं ध्यात्वा नानात्वादनन्त-
प्रकाशमयो भैरवो भवति ॥ ८६ ॥

एवम् अदभुतरूपतैमिरिधारणाप्रस्तावेन बाह्यां तिमिरधारणाम्
आह—

अपरामाह—

एवमेव दुर्निशायां कृष्णपक्षागमे चिरम् ।

तैमिरं भावयन् रूपं भैरवं रूपमेष्यति ॥ ८७ ॥

एवमेव इति पूर्वोक्ततिमिरवत् । दुर्निशायां मेघच्छन्ननिशायाम् ।
एष्यति प्राप्स्यति । इयम् अक्ष्णोरुन्मीलनेन तिमिरभावना उक्ता ॥

मेघच्छन्ना रात्रिर्दुर्निशा, तस्यामन्धतामिन्नमहातामिन्नतामिन्नरूपायां यत्
कालश्यामलादि भयङ्कररूपं भैरवमुद्रितं भैरवमुद्राङ्कितं भयङ्करत्वाददृश्यं
तत् भावयन् अक्षयानन्दमाप्नुयात्—तद्रूपस्य आश्चर्यकारित्वात् ॥ ८७ ॥

निमीलनेन भावनाम् आह—

अपरामाह—

एवमेव निमील्यादौ नेत्रे कृष्णाभमग्रतः ।

प्रसार्य भैरवं रूपं भावयंस्तन्मयो भवेत् ॥ ८८ ॥

एवमेव कृष्णपक्षदुर्निशाद्यभावेऽपि, 'आदौ नेत्रे निमील्य, कृष्णाभं
तमोरूपं भैरवं भावयन्, पश्चादपि नेत्रे प्रसार्य कृष्णाभं भैरवरूपं
भावयन् प्रकाशमयो भवेत् ॥ ८८ ॥

स्वनेत्रे च निमील्य, कृष्णपाक्षिकरात्र्यभावेऽपि कृष्णाभं तमोरूपं ज्ञात्वा,
किमेतत् इत्याश्चर्यकारि, एतदेव भैरवं रूपम्, एतद्रूपेण तन्मयीभावः
स्यादिति ॥ ८८ ॥

अन्तर्मखाविकल्पोपायां शाम्भवीं भूमिम् आह—

अपरामाह—

यस्य कस्येन्द्रियस्यापि व्याघाताच्च निरोधतः ।

प्रविष्टस्याद्वये शून्ये तत्रैवात्मा प्रकाशते ॥ ८९ ॥

व्याघातात् बाह्याभिभावककृतात्, निरोधात् तु स्वरसोत्थात्
प्रायत्निकात् वा, समनन्तरमेव अद्वये शून्ये प्रविष्टस्य—अन्तर्मुखपदे
निरुद्धस्य, तत्रैव परं चैतन्यं प्रकाशते ॥ ८९ ॥

बाह्याधिकारनिवृत्तेरज्ञत्वात् तत एव च व्याघातात् निरुद्धसमुच्चयात्,
अथ च निरोधतः निरोधनाच्च अद्वये द्वयरहिते शून्ये, अत एव प्रविष्टः सन्
अन्तर्मुखपदाश्रयणेन आत्मा प्रकाशत इति भावः ॥ ८९ ॥

अपरामाह—

अविन्दुमविसर्गं च अकारं जपतो महान् ।

उदेति देवि सहसा ज्ञानौघः परमेश्वरः ॥ ९० ॥

बिन्दुः अविभागसंवेदनम्—अद्वैतज्ञानम्, विसर्गो भेदप्रथासर्जन-
क्रियान्नाह्यादिशक्तिरूप-ककाराद्यक्षरसृष्टिरूपः, तद्रहितम् अकारं
प्रथमाक्षरम्, अविद्यमानः कारः करणं यस्य तत्, एवम्-विषम् अकि-
चिच्चिन्तनात्मकम् अनुत्तरं विमृशतः, तत्क्षणमेव अनेकज्ञानप्रसर-
स्त्रष्टा परमेश्वरः प्रादुर्भवति । अत्र—

‘एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म ।’

‘सर्वं खल्विदं ब्रह्म ।’

इति एकत्वं द्वितीयत्वं च अनुत्तरे अवाङ्मनसगोचरे न योग्यम्,
निरुत्तरत्वेन किञ्चिन्मात्रपरामर्शस्यापि अभावात्, अनुत्तरपदस्थस्य—

‘अवचनेनैव प्रोवाच स ह तूष्णीं बभूव ।’

इति श्रुत्यर्थ एतदनुकूलः । अविसर्गं च अकारं च इत्यत्र

‘एकधर्मिणो वा सवर्णे प्रकृतिः ।’

इति परिभाषया संघेरभावः ।

‘धित्तां च तं च मदनं च इमां च मां च ।’

‘माता यस्य उमा देवी ।’

इत्यादिवत् । इमां नैरुत्तरीं दशां संचेत्य श्रीभगवत्पादैरपि सिद्धा-
न्तितम् ।

‘न चैकं तदन्यद् द्वितीयं कुतः स्यात्

न वा केवलत्वं न चाकेवलत्वम् ।

न शून्यं न चाशून्यमद्वैतकत्वात्

कथं सर्ववेदान्तसिद्धं ब्रवीमि ॥’

इति । अम्—इति उच्चाररहितं, अः—इति उच्चारहीनं च अकारमात्रं
कुम्भकस्थस्य जपतः इति केचित् । द्वयसंपत्तिकारस्तु वामननाथो
विवृत्यन्तरम् आह, यथा—

‘अहङ्कारमयी भूमिर्बुद्धिभूमेः परा हि सा ।

तया व्याप्तमिदं विश्वं ज्ञाता सैव विमुक्तिदा ॥

संविद्रूपा परा शक्तिरभिन्ना परमेश्वरात् ।

ज्ञानशक्तिः पुनः सैव मन्त्ररूपा प्रदर्श्यते ॥

अहंकारः स्मृतो मन्त्रः शिवशक्त्यात्मरूपकः ।

अयम् अहंकारः अपरिमिताहंभूमिः, पूर्णाहन्ता इत्यर्थः ।

‘यदत्राद्यमवर्णाख्यं स शिवः परमेश्वरः ॥
नादबिन्द्वात्मकं यच्च सा शक्तिरैश्वरी स्मृता ।
द्वयमेतत्समाख्यातं बीजभूतं चराचरे ॥
अज्ज्ञलाद्याश्च ये वर्णास्तेऽनेनैव हि मुद्रिताः ।
शब्दब्रह्मेति तत्प्रादुर्योगिनस्तत्त्वचिन्तकाः ॥
अप्राणमस्वरं ध्यात्वा पश्यन्त्या निर्विभागया ।
चिन्मात्रामर्शयोगेन निलीनः स्यात्परे पदे ॥
तथाहि सिद्धैरादिष्टं कचित्सिद्धान्तसंग्रहे ।
नामेरुर्ध्वं वितस्तिस्तु कण्ठाधस्तात्षडङ्गुलम् ॥
हृदयं मध्यदेशे तु हृन्मध्ये कमलं स्मृतम् ।
पद्ममध्ये स्थिता सूक्ष्मा कणिका त्रिपथोपगा ॥
तन्मध्ये संस्थितो ह्यात्मा ह्यकारादिस्वरूपधृत् ।
अकारान्तः परं सूक्ष्मं चिन्मात्रस्पन्दलक्षणम् ॥
तस्याप्युपासा विज्ञानभैरवे कथिता यथा ।
‘अबिन्दुमविसर्गं च..... ॥’

इत्यादि ।

‘आत्मस्थाने निराधारा द्वितीया शक्तिरैश्वरी ।
बीजभूता कुण्डलिनी सार्धत्रिवल्यात्मिका ॥
प्राणशक्तिरियं देहे ह्यकाराख्या नदन्यलम् ।
कर्णान्तर्विवरे योगी स्थगित्वा लक्षयेत्स्फुटम् ॥
बिन्दुरूपा भ्रुवोर्मध्ये संसारजननी शिवा ।
लक्ष्यते योगिभिर्नित्यं भ्राजमाना स्वतेजसा ॥
तस्य बिन्दोस्तु चन्द्राकौ वामदक्षिणनेत्रयोः ।
निराश्रयौ तु तौ कृत्वा विशेद्ब्रह्म सनातनम् ॥’

इति ॥ ६० ॥

अम् इत्यत्र अः इत्यत्र च बिन्दुविसर्गौ परित्यज्य कुम्भकस्थस्य ‘अ’
इत्येवमेव केवलं जपतः परमेश्वरो ज्ञानौघ उदेति । सर्वविकल्परहित्येन
विकल्पादीन् संत्यज्य यच्छिष्यते तदेव भवतीत्यर्थः । तत्त्वमसि इत्यादिवत् ॥

वर्णस्य सविसर्गस्य विसर्गान्तं चिन्ति कुरु ।

निराधारेण चित्तेन स्पृशेद्ब्रह्म सनातनम् ॥ ९१ ॥

निराधारेण प्रक्षीणवेद्येन, विविधसर्गस्वभावयुक्तस्य वर्णजातेः ककाराद्यक्षररूपस्य ब्राह्म्यादिशक्तिसमूहस्य पशुभावोपकरणस्य विसर्गस्य अन्तो यथा भवति तथा, अन्तर्मुखस्वभावविमर्शनाधिकत्वात् तत्समावेशेन तन्मयोभावापादनस्वरूपतया, चिन्ति कुरु बुद्धिं विधेहि, ततः संवेदनस्य निराश्रयत्वे सति परब्रह्मस्पर्शो नित्यः ।
अथ च—

‘विसर्गस्यैव विश्लेष इति सप्तदशी कला ।

क्वचिदष्टादशी सैव पुनः प्रक्षोभयोगतः ॥

अनुत्तरस्याकारस्य परभैरवरूपिणः ।

अकुलस्य परा येयं कौलिकी शक्तिरुत्तमा ॥

स एवायं विसर्गस्तु तस्माज्जातमिदं जगत् ।

तस्य प्रक्षोभयोग्यत्वं प्रक्षोभकलनोदयः ॥

प्रक्षोभपूर्णताभावादक्रमस्य क्रमोन्मत्ता ।

इति षट्कस्वरूपात्मविसर्गान्दोलनोदितम् ॥

अनुत्तरस्वभावत्वादाद्यस्यैव विजृम्भितम् ।

स एव भगवानन्तर्नित्यं प्रस्फुरदात्मकः ॥

अन्तःस्थसर्वभावौघपूर्णमध्यमशक्तिकः ।’

इति उक्तनीत्या विसर्गस्वरूपे चिन्ति कुरु । सप्तमीपाठेन अयम् अर्थः—
सर्वोऽयं मातृकाप्रपञ्चोऽकुलस्य शिवबिन्दुनामधेयस्य शक्तिरूपो विसर्गः
इत्यर्थः ।

‘विसर्गः कौलिकी शक्तिस्तज्जोऽयं मातृकोदयः ।’

इति उक्तत्वात् । ज्ञानामृतरसायने च—

‘मात्रार्धमात्रात्परमं तदर्धाच्च परं परम् ।

तत्त्वातीतं परं तत्त्वमभावं भावमाश्रितम् ॥

तथा

‘अत्र प्रकाशमात्रं यत्स्थिते धामत्रये सति ।

उक्तं बिन्दुतया शास्त्रे शिवबिन्दुरिति स्मृतः ॥

अनुत्तरं परं धाम तदेवाकुलमुच्यते ।

विसर्गस्तस्य नाथस्य कौलिकी शक्तिरुच्यते ॥'

तस्या एव आदिक्षान्तोत्पत्तिः इति ॥ ६१ ॥

पुनश्चात्र 'अ' इत्येवमेव परित्यज्य, यश्च अमित्यत्र अः इत्यत्र च (')
(:) बिन्दुविसर्गौ परिशिष्टौ तयोरनिर्वचनीयत्वात् प्राप्ता तत्र परा निर्वृति-
रिति सिद्धम् ॥ ६१ ॥

अपरामाह--

व्योमाकारं स्वमात्मानं ध्यायेद्दिग्भिरनावृतम् ।

निराश्रया चितिः शक्तिः स्वरूपं दर्शयेत्तदा ॥ ९२ ॥

दिग्भिः अनावृतं विश्वव्यापिनम् । व्योमाकारम् इति अनाकृतिम्,
न तु तुच्छम् ॥ ६२ ॥

'अहमेव परो हंसः परमात्मा परात्परः ।'

इति व्योमाकारं स्वमात्मानं कृत्वा, तथा दिग्भिर्नीलपीतादिभिरुपाधिभिर्वि-
वर्जितं कृत्वा, चितिशक्तिर्निराश्रया स्वं रूपं दर्शयेदिति भावः ॥ ६१ ॥

अपरामाह--

किञ्चिदङ्गं विभिद्यादौ तीक्ष्णसूच्यादिना ततः ।

तत्रैव चेतनां युक्त्वा भैरवे निर्मला गतिः ॥ ९३ ॥

किञ्चिदङ्गम् अंगुल्यङ्गुष्ठादिकम्, निशितसूचीकण्टकादिना
प्रथमं छित्त्वा, तदनन्तरं तत्रैव चेतनां संविदं युक्त्वा! संयोज्य, सूच्या-
दिव्यथानुभवितृचेतनाशक्तिसमाहितस्य भैरवविषयं निर्मलं ज्ञानं
भवत्येव ॥ ६३ ॥

तीक्ष्णसूच्यादिना, वा अग्निना शरीरं प्रमथ्य तत्सहनादिना या सहन-
शक्तिः सैव चेतना इत्यभिधीयते

'अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।'

इत्यादिभगवद्वाक्यस्मरणात् भैरवसारूप्याप्तिरिति भावः ॥ ६२ ॥

अपरामाह—

चित्ताद्यन्तःकृतिर्नास्ति ममान्तर्भावयेदिति ।

विकल्पानामभावेन विकल्पैरुज्झितो भवेत् ॥ ९४ ॥

चित्तादिकम् अन्तःकरणं नास्ति मदेहान्तर इति भावयेत् इति सम्बन्धः ॥ ९४ ॥

चित्ताद्यन्तःकरणवर्गो ममान्तर्नास्ति, अस्त्यपि नास्त्येव, इत्येवं बाह्य-विषयोपरमाद्दृढभावनस्ततो विकल्पानामभावेन विकल्पैरुज्झितस्त्यक्तः, निर्विकल्पतया शुद्धचैतन्यो भवेदित्यर्थः ॥ ९३ ॥

गुणा गुणेषु वर्तन्ते, मम किम् आयातम् इति स्वात्मनि औदासी-न्यधारणाम् आह—

अपरामाह—

माया विमोहिनी नाम कलायाः कलनं स्थितम् ।

इत्यादिधर्मं तत्त्वानां कलयन्न पृथग्भवेत् ॥ ९५ ॥

विशेषेण भेदप्रथात्मकेन पुरुषं मोहयति इति मायाया एव मोह-नत्वं धर्मो, न मम, कलायाः कलातत्त्वस्य किञ्चित्करणं धर्मः, विद्या-तत्त्वस्य किञ्चित् वेदनं धर्मः इत्यादि सर्वेषां तत्त्वानां धर्मं विमृशन् पुरुषः पृथक् न भवेत्, किं तु विवेकज्ञानात्मकाभेदख्यातिमान् भवेत् । प्रकृतिपुरुषविवेकज्ञानात् मोक्षः इति निर्वाहितम् ॥ ९५ ॥

इयं माया विमोहिनी नाम तत्त्वानां च, इत्यादिधर्मं कलायाः कलनं स्थितम्, इत्येवं कलयन् ना पुरुषः पृथक् भवेत्—सर्वोत्तीर्णः कूटस्थ इत्याख्यः स्यादित्यर्थः ॥ ९४ ॥

अपरामाह—

झगितीच्छां समुत्पन्नामवलोक्य शमं नयेत् ।

यत एव समुद्भूता ततस्तत्रैव लीयते ॥ ९६ ॥

अवलोक्य अन्तर्मुखत्वेन विमृश्य, इच्छां पुत्राद्येषणाम् इदं मे स्यात् इत्येवं-प्रकाराम् एषणां समुत्पन्नान्-अमूर्तादपि चिन्मात्रात् मायाकृतक्षोभवशात् उद्भूतां दृष्ट्वा, शीघ्रं शान्तिं प्रापयेत् । अमूर्तो

हि चिन्मात्रात्मा मध्येऽज्ञानेनैव प्रकटितेच्छः, चिन्मात्रस्य निराकार-
त्वात् नास्ति इच्छा, परंतु इष्यमाणम् एषणादिकं वा अविद्यैव इति
दृष्ट्या शान्तेच्छो भवेत् । यतो यस्मात् अविद्यैव उद्भूता इच्छा,
अविद्या हि आकाशात्मिका, ततस्तत्रैव लीना भवेत्, तेन हि निर्वि-
कल्पदशाप्राप्तिः । इच्छायाः शान्तिनयनासंभवे तु पूर्वपदार्थेच्छा-
नन्तरम् इष्यमाणविषयं चिन्तान्तरं भवेदेव इति चेत्, तर्हि

‘एकचिन्ताप्रसक्तस्य’ । (स्प० ३ उ० ६ का०)

इति-नयेन उन्मेषधारणाभ्यासेन इष्यमाणविषयद्वयम् उपशान्तमेव
स्यात् । तस्मात् विषयद्वयचिन्ताद्वयान्ते व्यापकतया अनुभूयमानमुन्मे-
षमेव ध्यायेत् । तेन उन्मेषात् उद्भूता एका चिन्ता, तस्मिन्नेव
अन्यापि लीयते, इति चिन्ताद्वयैकानुसंधातृधारणाबलात् द्वयमपि
क्षीयते । यदभिप्रायेण

‘न चित्तं निक्षिपेत् दुःखे..... ।’

इति ।

‘यत्र यत्र मनो याति तत्तत्तेनैव तत्क्षणम् ।

परित्यज्य..... ॥’

इत्यादि उपदेक्ष्यति अग्रे, तत् साधु उक्तं—‘यत एव, समुद्भूता तत-
स्तत्रैव लीयते ।’ इति । तेन यत उन्मेषरूपात् स्पन्दभट्टारकात् उद्भूता,
ततः तस्मिन्नेव लीयते । यदुक्तं वसुगुप्तपादैः

‘एकचिन्ताप्रसक्तस्य यतः स्यादपरोदयः ।

उन्मेषः स तु विज्ञेयः स्वयं तमुपलक्षयेत् ॥’

(स्प० ३ उ० ६ का०)

इति ॥ ६६ ॥

एवमन्तर्मुखतया विमृश्य यत एव क्षोभमयान्मनस उत्थिता तत्रैव शमं
नयेत् प्रापयेत् ।

‘तरङ्गा इव तोयेषु बुद्बुदा इव सागरे ।’

इत्यादिवत् ऐक्यमाश्रित्य तत्सर्वं च प्रशमय्य ब्रह्म संपद्यते तदा स्वयमेव ॥६६॥

अपरामाह—

यदा ममेच्छा नोत्पन्ना ज्ञानं वा कस्तदास्मि वै ।

तत्त्वतोऽहं तथा भूतस्तल्लीनस्तन्मना भवेत् ॥ ९७ ॥

ज्ञानम् इति क्रियाया उपलक्षणम्, इच्छाज्ञानक्रियाणाम् अनाविभवे अहमेव नास्मि, किं तु चिदानन्दरूप एव अस्ति इत्यर्थः । चिन्निर्वृतीच्छाज्ञानक्रिया हि आत्मनः शक्तयो बस्तुतः सर्वासु दशासु, न पुनः तस्मिन्नेव समये, तथाभूतः चिदानन्दात्मकः ॥ ६७ ॥

इच्छाज्ञानक्रियादिसन्दोहे समुत्पन्नेऽपि अहं करोमि गच्छामीत्यादिना, तेन च ज्ञानं वा समुत्पन्नमपि तत्त्वतोऽहंस्वरूप एवाहम्, तस्मिन्लीने तन्मयो भवेदिति गुरवः । तथा च स्पन्दे

‘गुणादिस्पन्दनिःस्पन्दाः सामान्यस्पन्दसंश्रयात् ।

लब्धात्मलाभाः सततं स्युर्ज्ञस्यापरिपन्थिनः ॥

अप्रबुद्धधियस्त्वेते स्वस्थितिस्थगनोद्यताः ।

पातयन्ति दुरुत्तारे घोरे संसारवर्त्मनि ॥

अतः सततमुद्युक्तः स्पन्दतत्त्वविविक्तये ।

जाग्रदेव निजं भावमचिरेणाधिगच्छति ॥’

इत्यादिना सुस्पष्टतया प्रतिपादितम् ॥ ६७ ॥

अपरामाह—

इच्छायामथवा ज्ञाने जाते चित्तं निवेशयेत् ।

आत्मबुद्ध्यनन्यचेतास्ततस्तत्त्वार्थदर्शनम् ॥ ९८ ॥

इच्छायां जातमात्रायाम्, अथवा ज्ञाने जाते सति, विषयसंकल्पं विहाय, आत्मैव एतत् इति बुद्ध्या चित्तं निक्षिपेत्, तेनैव परमार्थज्ञानं भवेत् ।

‘अयम् आत्मा ब्रह्म’ ।

इति श्रुतेः । सालम्बापरपर्यायसाकारभावना इयम् ॥ ६८ ॥

जातमात्रायामिच्छायां जातमात्रे ज्ञाने वा सति सर्वस्मिन्स्वात्मरूपदृढ-भावनया अनन्यचेतसस्तत्त्वात्मदर्शनं स्यादेवेति निश्चयः, ‘सर्वं खल्विदं ब्रह्म’ इत्यभ्यसनादिति भावः ॥ ६८ ॥

ज्ञानमेव क्षणिकं सन्तानस्वरूपम्, न तु तस्य कश्चित् ज्ञाता आधारः
इति सौगतदर्शनं कटाक्षयन्, उपदिशति शाक्तोपायम्—

अपरामाह—

निर्निमित्तं भवेज्ज्ञानं निराधारं भ्रमात्मकम् ।

तच्चतः कस्यचिन्नैतदेवंभावी शिवः प्रिये ॥ ९९ ॥

यत् इदं घटादिज्ञानं तत् निराश्रयम्,—स्थिरस्य कस्यचित् आत्मनो
घटादेराधारस्य वा अवास्तवत्वात्, अत एव निर्हेतुकम्—चक्षुरालोका-
दिनिमित्तस्यापि अवास्तवत्वात्, भ्रमात्मकं मायावशोत्थितं विकल्पा-
त्मकत्वात्—ज्ञानव्यतिरिक्तस्य अन्यस्य अभावात् । स एव अयं घटः
इति संवेदनं तु सोऽयम्—वितस्तायाः प्रवाहः इतिवत् भ्रान्तिरेव
इत्यर्थः । एवम्-भावनापरः शिव एव ॥ ९९ ॥

भ्रममात्रान्निमित्तं शुक्ताविदं रजतमित्यादिवत् भ्रममात्रस्वभावं सर्वं
दृश्यजातम् अत एव च निराधारमनाश्रयात्मकम्, अस्ति हि सर्वं चिन्मात्रम्
चिद्व्यतिरिक्तस्यान्यस्याभावात् इत्येवंभावनादाढ्यात् शिव एव स्यादिति
भावः ॥ ९९ ॥

अपरामाह—

चिद्धर्मा सर्वदेहेषु विशेषो नास्ति कुत्रचित् ।

अतश्च तन्मयं सर्वं भावयन्भवजिज्ञः ॥ १०० ॥

चित् ज्ञानम्, क्रिया वा धर्मो गुणो यस्य सः चिद्धर्मा—चेतनः

‘धर्मादनिच् केवलात्’ । (पा० व्या० ५-४-१२४)

इति अनिच् । सर्वदेहेषु हस्तिपिपीलिकादिशरीरेषु, कीटादिसदाशिवान्तं
नास्ति कश्चिद्भेदः । तन्मयम्—चिन्मयं चैतन्यस्य साधारणत्वात् ।
यदुक्तं ब्रह्मदर्शने

‘यैव चिद्गगनाभोगभूषणे व्योम्नि भास्करे ।

धराविवरकोशस्थे सैव चित्कीटकोदरे ॥’

इति । भावयन् इति निर्विशेषं ब्रह्म सर्वत्र अस्ति इति बोधमेवं धारयन्,
न तु इवश्वपाकादिना सह उपवेशनभोजनादिकं व्यापारम् आचरन्
इति ज्ञानप्रकर्ष एव उक्तः, अन्यथा

‘बुद्धाद्वैतसतत्त्वस्य यथेष्टाचरणं यदि ।
शुनां तत्त्वदृशां चैव को भेदोऽशुचिभक्षणे ॥’

इति ॥ १०० ॥

देवासुरनरतिर्यक्स्थावरजङ्गमादिषु मूर्तिषु चिद्धर्माः सामान्येन सन्ति, न च तत्र विशेषोऽस्ति कुत्रचित्, देहादेरेव विशेषोऽस्ति न तु चित्तेः, इति भावयन् ‘सर्वत्र चिदेव जृम्भते’ इत्यनुभवदाढ्यात् ‘सोऽहमस्मीति’ भावयन् भवजित् दुस्तरसंसारोत्तीर्णो जनो भवति ॥ १०० ॥

इदानीम् अतिशयितकामक्रोधाद्यवस्थासु स्वरसत एव समस्तापर-
वृत्तिक्षयमया यदि स्पन्दतत्त्वविविक्तये समद्युक्ता झगिति अन्तर्मुखी-
भवन्ति योगिनः, तत् समीहितम् अचिरेणैव लभन्ते । अयोगिनस्तु
अत्र मूढा एव, तस्मात् एतद्वृत्तिक्षयपदं संचेत्य झगिति कूर्माङ्ग-
संकोचयुक्त्या क्रोधसंशयवृत्तीः प्रशमय्य महाविकासव्याप्तियुक्त्या
प्रहर्षघावनवृत्तीर्विस्फार्य अभिमुखीभूतनिजस्पन्दशक्तिविमर्शवता
योगिना भाव्यम् इति उपदिशति—

अपरामाह—

कामक्रोधलोभमोहमदमात्सर्यगोचरे ।

बुद्धिं निस्तिमितां कृत्वा तत्तत्त्वमवशिष्यते ॥ १०१ ॥

कामादिरूपे गोचरे तदास्पदे अरिषड्वर्गे अवतरण्युक्तनीत्या
एकाग्रां बुद्धिं स्वसंविदं विधाय तत् तत्त्वम् अवशिष्यते । कामादि-
विषये तदैकाग्र्यप्रकर्षात् अपहारितवाह्यविषयाश्लेषं चिदानन्दम-
यत्वमेव जायते इति वृत्त्यन्तरम् । एषा निर्विकल्पौपयिकी शांभवी
भूः ॥ १०१ ॥

कामक्रोधादिषु मात्सर्यपर्यन्तेषु बुद्धिमैकाग्रां विधाय विकारानधिगमात्
निस्पन्दां कृत्वा तत्तत्त्वं चिन्मात्रबोधमवशिष्यत इति शेषः ॥ १०१ ॥

अपरामाह—

इन्द्रजालमयं विश्वं व्यस्तं वा चित्रकर्मवत् ।

भ्रमद्वा ध्यायतः सर्वं पश्यतश्च सुखोद्भूतः ॥ १०२ ॥

विश्वं ग्राह्यग्राहकात्मकं जगत् । भ्रमत् इति नावारूढस्य गच्छ-
त्तरुपर्वतवत् जन्मादि ॥ १०२ ॥

इत्येवं ज्ञानानुभवयुक्त्या निश्चितया बुद्ध्या सर्वमिदमिन्द्रजालनिभं विश्वं
विभाव्य, स्वस्पन्दारोहणेन सर्वमिदं भ्रमन्नपि ध्यायन्नपि पश्यन्नपि अक्षय-
सुखीभवति,—‘सर्वमिदं ब्रह्म’ इति पश्यन् मुच्यत इत्यर्थः ॥ १०२ ॥

अपरामाह—

न चित्तं निक्षिपेद्दुःखे न सुखे वा परिक्षिपेत् ।

भैरवि ज्ञायतां मध्ये किं तत्त्वमवशिष्यते ॥ १०३ ॥

सुखदुःखयोः विषये चित्तस्थापनं न विधेयम्—अहं सुखी अहं दुःखी
इति । शुद्धे स्वात्मनि अन्तःकरणधर्मान् सुखदुःखादीन् अध्यस्य न
स्थेयम्, किं तु ज्ञायतां त्वया—स्वयमेव विचारय मध्ये किं तत्त्वम्
अवशिष्यते इति । सुखदुःखयोः मध्ये यत् तत्त्वं तत्साक्षिभूतं तदनु-
संधातु एकं चित्तस्त्वम्, ऐकाग्र्येण तदेव विमृश इत्यर्थः ॥ १०३ ॥

सुखदुःखादिविभवे सर्वं सुखं वा दुःखमेव वेदं सर्वं विज्ञाय तदैकाग्र्यतया,
हे भैरवि ! ध्यायतां तन्मध्ये भैरवोदयः स्यादित्यर्थः ॥ १०३ ॥

इदानीं पूर्णहन्ताग्रहणेन देहाद्यहन्ताहानेन चिदानन्दव्याप्ति
उपदिशति—

अपरामाह—

विहाय निजदेहास्थां सर्वत्रास्मीति भावयन् ।

दृढेन मनसा दृष्ट्या नान्येक्षिण्या सुखी भवेत् ॥ १०४ ॥

निजदेहे आस्थाम्—स्वदेहे प्रमातृतां विहाय सर्वमहम् इति सदा-
शिवेश्वरवत् न तु

‘चिद्धर्मा’..... ।’

इति उक्तचिन्मात्रात्मशिववत्, दृढेन—निःसंशयेन, मनसा चित्तेन, तथा
दृष्ट्या स्वसंविदा, नान्येक्षिण्या प्रोक्तवस्तुविमर्शकाग्रतया, भावयन्,

सुखी भवेत् । अत्र शिवशक्तिसामरस्यात्मनि विश्वाहंभावे बहुशो व्याचक्षिरे, ईदृशोऽहंभावोऽपि तत्त्वमञ्जरीकारेण अपह्नुतो, यत् सौगतमतानुमोदनरसिकेन संवादितम्

‘यतस्ततो वास्तु भयं यद्यहं नाम किञ्चन ।
अहमेव न किञ्चिच्चेद्भयं कस्योपजायते ॥’

इति । यदाहुः सौगता अपि

‘सत्यात्मनि परसंज्ञा स्वपरविभागे च रागविद्वेषौ ।
अनयोः संप्रतिबद्धाः सर्वे दोषाः प्रजायन्ते ॥’

इति । विमर्शदीपिकायां तु—

‘विश्वात्म विश्वोत्तीर्णं च स्वतत्त्वं दिव्यमक्षरम् ।
अहमित्युत्तमं तत्त्वं समाविश्य विभेति कः ॥’

इति प्रतिपन्नम् । पूर्वगुणानामपि

‘एककोऽहमिति संसृतौ जन-
स्त्राससाहसरसेन खिद्यते ।
एककोऽहमिति कोऽपरोऽस्ति मे
इत्थमस्मि गतभीर्व्यवस्थितः ॥’

इत्यादिना प्रतिग्रन्थं भगवान् अहं-रूप एव परामृष्टः । श्रीह्रस्व-
नाथेन हर्षदत्तसूनुनापि

‘अहंकारमयी भूमिः..... ।’

इत्यादिना अद्वयसंपत्तौ । परिमिताहंभावस्तु परिहरणीयः । तदुक्तं
तपस्विराजेन—

‘सुविषमममतादंष्ट्राविदलितजनधैर्यशोणितपिपासुः ।
अहमिति पिशाच एष त्वत्स्मृतिमात्रेण किङ्करीभवति ॥’

इति ॥ १०४ ॥

निजदेहप्रमातृतां विहाय—न देहोऽहमित्यादिना, पश्चात्सर्वमिदमहमेव
इति भावयन् सुखी सर्वत्र सर्वदा ॥ १०४ ॥

अपरामाह—

घटादौ यच्च विज्ञानमिच्छाद्यं वा ममान्तरे ।

नैव सर्वगतं जातं भावयन्निति सर्वगः ॥ १०५ ॥

सर्वत्र परिदृश्यमानं यत् घटादौ विज्ञानम्, यत् च मदान्तरे इच्छा-
दिकम्, तत् सर्वं जातमेव न भवति इति शून्यरूपतया भावयन्,
सर्वगः स्यात् इति अन्ये ।

अस्मदीयो विवेकस्तु यथा—घटादौ विषये यत् अस्मदादेर्विषयिणो
ज्ञानम्, इच्छाद्यं वा यत् च अस्ति, तत् ममैव अन्तरे हृदयमध्ये नैव,
किं तु सर्वगतं जातं तत् भवति इति अन्वयः । एव-कारो भिन्नक्रमः
स तु मम इति अनन्तरं बोद्धव्यः । सर्वेषां घटादीनामपि अस्मदादि-
विषयं ज्ञानं इच्छाद्यं वा अस्ति तेन किं जातं, घटादयोऽपि जानन्ति
अस्मदादिज्ञानेन, तथा सदाशिरादिरपि क्रिमिपर्यन्तं मदात्मना
जानाति इच्छति वा, क्रिमिरपि अस्मदादिप्रभृति सदाशिरान्तं
जानाति इच्छति च इति ज्ञानक्रियात्मकं सर्वं सर्वात्मकम् इत्थं भावयन्
धारणां कुर्वन् सर्वगतो भवेत् । यदुक्तं सोमानन्दपादैः शिवदृष्टौ

‘घटो मदात्मना वेत्ति वेद्म्यहं च घटात्मना ।

सदाशिरात्मना वेत्ति स वा वेत्ति मदात्मना ॥

नानाभावैः स्वमात्मानं जानन्नास्ते स्वयं शिवः ।’

इति ॥ १०५ ॥

सदा सर्वत्र सदास्ववस्थामु यत् दृश्यमानं घटादिविज्ञानेन घटोऽयमित्या-
दिना, तदन्तरे या चेच्छा एवं करोमीत्यादिना, तत्सर्वं जातमपि किमपि न
भवति निःसारत्वादिति भावयन् सर्वत्र प्रकाशस्वरूपः स्यादिति भावः ॥ १०५ ॥

अपरामाह—

ग्राह्यग्राहकसंवित्तिः सामान्या सर्वदेहिनाम् ।

योगिनां तु विशेषोऽस्ति सम्बन्धे सावधानता ॥ १०६ ॥

सर्वदेहिनां सदाशिरादिकीटान्तानां, सामान्या निर्विशेषा । योगिनां
तु पुनः सावधानता ग्राहकरूपाविस्मरणम् ॥ १०६ ॥

सर्वदेहिनां सदाशिरादिकीटान्तानाम् इदं ग्राह्यम् अयं ग्राहक इत्यादिना

यो व्यवहारः स सामान्य एव सर्वदेहिनां, यदेको जानाति तदपरोऽपि जानाति इत्यनेन सामान्या, परंतु योगिनामयमेव विशेषः—सम्बन्धे ग्राह्यग्राहकस्वरूपा-
वधारणे ग्रहीतृरूपाविस्मरणमित्यर्थः, अहं स्मर्तेति सर्वदा प्रकाशस्वरूपः, अन्य-
द्वेद्यमनित्यमसदित्युच्यते ॥ १०६ ॥

अपरामाह—

स्ववदन्यशरीरेऽपि संवित्तिमनुभावयेत् ।

अपेक्षां स्वशरीरस्य त्यक्त्वा व्यापी दिनैर्भवेत् ॥ १०७ ॥

स्वकीयशरीरापेक्षां विहाय केवलं संविन्मात्रम् अन्यशरीरेऽपि
अन्यदीयबाह्यदेहेऽपि अनुगतं भावयेत्—स्वशरीराविनाकृतं संविद्रूपं
बाह्ये परकाये विमृशेत्, येन

‘तद्वुद्ध्यस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।’

इत्यादिना विदेहकैवल्यसिद्धिः ।

‘विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।’

इति सर्वत्र ब्रह्मदर्शनमाहात्म्यात् महाविदेहकैवल्यं सिद्ध्येत् । ततः
परकायप्रवेशादिना तत्तत्तानाविधसात्त्विक्यादियोनिविषये तत्तत्कर्मा-
चरणेच्छया विहरणसुखं योगिनो जायते । कथम् ? स्वदेहानपेक्षां
संविद्रूपम् अनुवृत्तं परत्र भावयेत् इति उपमानमाह—स्ववत् इति ।
यथा स्वात्मनि स्वशरीरापेक्षां त्यक्त्वा स्वसंविद्रूपविमर्शनं भवति,
तद्वत् अन्यशरीरे जीवद्भूते मृते वा संविद्रूपानुगतिभावना, इत्यत्र
स्वेच्छैव योगिनः प्रमाणम्, सजीवे वशिता-यत्रकामावसायितादिसिद्धि-
प्रादुर्भावफलम्, मृतेऽपि कस्मिंश्चिद्राजदेहादौ स्वसंविद्विमर्शनबलात्
तत्कायप्रवेशेन तत्तत्क्रीडाविधानमेव प्रयोजनम् । एतदुक्तं भवति—
शरीरापेक्षा कदाचिदपि संविद्रूपस्य नास्ति कुतः संविद्रूपस्य सर्वत्र
अनुगतत्वात् शरीराणाम् अननुगमेन व्यतिरेकात्, यथा स्वप्ने चिदा-
त्मनोऽनुवृत्तिः स्वप्नसाक्षित्वेन स्फुरणात्, स्थूलदेहस्य तु व्यावृत्तिर-
प्रतीतेः, सुषुप्तौ चिन्मात्रानुवृत्तिः—सुषुप्तावस्थासाक्षित्वेन स्फुरणात्,
अन्यथा सुप्तः कः ? इति प्रश्ने दत्ते तव किम् उत्तरं स्यात् इति
आत्मनोऽनुवृत्तिरेव, लिङ्गदेहस्य तु व्यावृत्तिः,—गाढनिद्रायां सुषुप्तौ
आभासमात्रपदार्थदर्शनगन्धमात्रस्यापि अनुपलब्धेः । एवं समाध्य-

वस्थायां तुरीयदशायां शुद्धचिदानन्दस्फुरणावस्थानेन आत्मनोऽनुवृत्तिः-
समाहितत्वात् तस्य, सुषुप्त्युपलक्षितस्य कारणदेहरूपस्य अज्ञानस्य
अप्रतीतेर्व्यावृत्तिः इत्यर्थः । एवम् अवस्थाचतुष्टये देहत्रयस्य अननु-
वृत्तत्वात् आत्मनः सर्वविद्रूपस्य तु सर्वावस्थासु अनुवृत्तेः तत्तद्देहापेक्षां
विहायापि स्वातन्त्र्यम् इति सर्वं सूक्तम्

‘अपेक्षां स्वशरीरस्य ।’

इत्यादि । परमार्थतस्तु—स्ववत् स्वीयदेहवत्, अन्यशरीरेऽपि सर्वत्र
प्रमेयपटलजाते

‘स्वाङ्गकल्पेषु भावेषु पत्युर्ज्ञानं क्रिया च या ।’ (प्रत्य० ४।१।४)
इत्यादिनीत्या स्वावयवभूते सर्वदेहसमूहे चेतनाम् अनुभावयेत् । कथम् ?
स्वशरीरापेक्षां त्यक्त्वा चिन्मात्ररूपस्य मम सर्वत्र तुल्यस्थितत्वेन
निखिलं जगत् ममैव वपुः, न तु एकदेशावयवतुल्यः अयं देहवराकः,
एतस्मिन् देहावयवे नष्टेऽपि अन्ये सर्वे देहा मम सन्त्येव इति किमनेन,
इत्थं ममताविषयीकृतां स्वशरीरापेक्षां त्यजेत्, अन्यथा अवयवान्तर-
निःसृतकण्ठमात्रस्थितप्राणमृतप्रायशवतुल्यो भवेत् । एतद्वर्णना तु
विरूपाक्षपञ्चाशिकायाम्

‘उत्क्रम्य विश्वतोऽङ्गात् तद्भागेकतनुनिष्ठिताहन्तः ।

कण्ठलुठत्प्राण इव व्यक्तं जीवन्मृतो लोकः ॥’

इति । तस्मात् परत्र शरीरापेक्षसंवित्त्यनुगतत्वभावेन कतिपर्यैः
दिनैः एव सर्वव्यापको भवेत् ॥ १०७ ॥

तस्य शरीरभूत जगदिदमिति सर्वं विभावयन् केवलं भिन्नतया स्वशरी-
रापेक्षां विहाय, इदं मम शरीरं नास्तीतरस्मादन्यत् इत्यनेन परस्मिन्सर्व-
स्मिन्स्वात्मसंविन्मात्रदृढभावेन व्यापकरूपोऽसी तद्दिनैरेव भवेदिति
भावः ॥ १०७ ॥

अपरामाह—

निराधारं मनः कृत्वा विकल्पान्न विकल्पयेत् ।

तदात्मपरमात्मत्वे भैरवो मृगलोचने ॥ १०८ ॥

त्यक्त्वा ह्यान्तरलम्बनं मनः कृत्वा संकल्पकला यदा न विक-
ल्पयेत्, तदा जीवात्मपरात्मभावे भैरव एव । संकल्पकलया

जीवत्वम्, निर्विकल्पदशया ब्रह्मत्वम् इत्यतो विकल्पान् न विदध्यात् ॥ १०८ ॥

सर्वमेतत्तयाज्यं स्वस्वभावाध्यासरूपं 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा' इति-वदध्य-
स्तमेव निःसारतया हेयमिति भावः । इत्यनेन निराधारतया स्वात्मनः
परमात्मत्वे निष्ठां प्राप्य परमात्मनि च लीनतां संप्राप्य वा विभाव्य, भैरव-
रूपः परमात्मैव भवतीत्यर्थः ॥ १०८ ॥

‘सोऽहं ममायं विभव इति प्रत्यभिजानतः ।

विश्वात्मनो विकल्पानां प्रसरेऽपि मद्देशता ॥’

इति उक्तनयेन सोऽहं शुद्धबोधस्वरूपः, जगच्च इदं मदीयः स्फारः
इति द्विविधां प्रत्यभिज्ञां दर्शयन्, प्रथमं सोऽहम् इति प्रतीकं
व्याचष्टे—

अपरामाह—

सर्वज्ञः सर्वकर्ता च व्यापकः परमेश्वरः ।

स एवाहं शैवधर्मा इति दाढ्याद्भवेच्छिवः ॥ १०९ ॥

शिवस्य अयं शैवो धर्मः—स्वच्छस्वातन्त्र्यादिः यस्य सः शैवधर्मा,
स एव अहम् अहमेव स इति असंदिग्धत्वेन भावनात् शिवता । इयं
शाक्ती भूः ॥ १०९ ॥

स एवाहमहमेव सः, शिवस्यायं शैवः स एव धर्मो यस्य स्वातन्त्र्यादिर्मम
सर्वोस्ति, अनेन दृढभावेन परमशिवताद्रूप्यं गम्यते ॥ १०९ ॥

ममायं विभवः इति प्रत्यभिज्ञां विवृणोति—

अपरामाह—

जलस्येवोर्मयो वह्नेर्ज्वालाभङ्गयः प्रभा रवेः ।

ममैव भैरवस्यैता विश्वभङ्गयो विभेदिताः ॥ ११० ॥

विश्वभङ्गयः संसारविच्छित्तिलहर्षो, विभेदिताः संजातभेदाः
इत्येवं परिजानतः, सोऽहम्, अहं स इत्येकेन प्रकारेण, ममायं विभवः
इति प्रकारान्तरेण प्रत्यभिजानतः इति अन्वये इति एवकारौ निपातौ
प्रत्यभिज्ञाद्वैधं सूचयतः, अन्यथा प्रकारार्थस्यैव भावात् अनयोः

पौनरुक्त्यम् आपतेत् । ये तु 'सर्वो ममायम् , सर्गो ममायम् इत्यादि पाठान्तरं कल्पयन्ति ते पण्डितमन्याः

‘स एवाहं शैवधर्मा..... ।’

‘ममैव भैरवस्यैता..... ।’

इति पृथक् धारणाद्वयार्थं पद्यद्वयं परमेश्वरोपदिष्टं दृष्ट्वापि मूढाः । न हि पृथगात्मा नाम पशुः कश्चिदन्योऽप्यहम् , अपि तु यः प्रकाशात्मा स एव अहम् , स च अहमेव , न तु अन्यः कश्चित् इति सोऽहम् इति प्रतीकं प्रत्यभिज्ञासूत्रविमर्शिनीकारेण विवृतम् । तथा ममायं विभवः इति द्वितीयं प्रत्यभिज्ञां विवृणुता अतो विकल्पसृष्टिरपि मम स्वातन्त्र्यलक्षणो विभवः इत्येवमात्मकं च प्रकटीकृतं । सहृदयजनेन तदग्रे दर्शितं तन्मुखविषयचपेटापातनमिव अनुभूय स्वयमेव अत्यन्तं स्फुटिता भवेयुः इति सिद्धा द्विविधा प्रत्यभिज्ञा ॥ ११० ॥

यथा जलोर्मयः जलादेव, वह्नेर्वा ज्वालाः, रवेर्वा प्रभाः तथा भैरवस्यैता विश्वभङ्ग्यो गमनागमन-नोजनहवनदानप्रसारणनिर्गमनादीनि सन्तीति भावयेदिति शेषः ॥ ११० ॥

अपरामाह—

भ्रान्त्वा भ्रान्त्वा शरीरेण त्वरितं भुवि पातनात् ।

क्षोभशक्तिविरामेण परा संजायते दशा ॥ १११ ॥

पूजकदशायाम्, जङ्घालपान्थदशायां वा प्रद्युम्नपीठादिपरिदक्षिणाङ्गेन अहर्निशं मार्गभ्रमणदाढ्यार्च्यभ्यासोपकारकेण स्वदेहेन परिभ्रम्य, अन्ते शीघ्रं भुवि पातनात् अर्थात् शरीरस्य भुवि स्थितस्य सतो वेगशक्तेर्विरामे परा निर्विकल्पदशा प्रादुर्भवति ॥ १११ ॥

प्रदक्षिणक्रियावत् सहस्रजन्मजन्मान्तरमासाद्य मानुष्यदेवासुरतिर्यगादियोगिषु, ततश्च सद्गुरुदृष्टिपातात् क्षीणशोकस्य परा दशा प्रादुर्भवति इत्यर्थः । तथैव—

‘यदा क्षोभः प्रलीयेत तदा स्यात्परमं पदम् ।’ (६ उ०)

इत्यादिना स्पन्दे प्रतिपादितमस्ति ॥ १११ ॥

अपरामपि आह—

आधारेष्वथवाऽशक्त्याऽज्ञानाच्चित्तलयेन वा ।

जातशक्तिसमावेशक्षोभान्ते भैरवं वपुः ॥ ११२ ॥

ज्ञानविषयेषु द्रव्येषु असामर्थ्येन वा यः चित्तलयः अज्ञानात् ज्ञानादेरभावतो यः चित्तप्रलयः तेन वा कृत्वा, यो जातः शक्तौ अनाश्रिताख्यायां समावेशः तेन क्षोभान्ते चञ्चलताविरामे सति 'भैरवं वपुः' पूर्वोक्तस्वानुभवानन्दावस्थारूपं भवति ॥ ११२ ॥

पदार्थेषु ज्ञातुमशक्यत्वात्, वा ज्ञानादेरभावतो यश्चित्तस्य लयस्तेन यो जातोऽनाश्रितायां शक्तौ समावेशक्षोभस्तदन्ते भैरवं वपुर्व्यज्यत एवेत्यर्थः ॥ ११२ ॥

अपरामाह—

संप्रदायमिमं देवि शृणु सम्यग्ब्रह्महम् ।

कैवल्यं जायते सद्यो नेत्रयोः स्तब्धमात्रयोः ॥ ११३ ॥

संकोचं कर्णयोः कृत्वा ह्यधोद्वारे तथैव च ।

अनक्तमहलं ध्यायन्विशेद्ब्रह्म सनातनम् ॥ ११४ ॥

अधोद्वारे पायुरन्ध्रे स्वपाष्णिना पीडनं कृत्वा, अहलं हलूरहितम्, ऐश पाठोज्यम् । शेषं स्पष्टम् ॥ ११३-११४ ॥

सर्वस्यास्य भेदाभेदमयस्य जगतो विस्मरणादन्तरात्मनि च दत्तदृष्टे-
र्योगिनो यत्र तत्र चित्तप्रकाशः स्यादेवेत्यर्थः, सर्वेषूक्तवक्ष्यमाणानुशासनेष्वेतेषु
चिन्मात्रावधारणचित्तैकाग्र्याभ्यासनमभिप्रेतमस्ति ॥ ११३ ॥

अपरामाह—

कूपादिके महागते स्थित्वोपरि निरीक्षणात् ।

अविकल्पमतेः सम्यक् सद्यश्चित्तलयः स्फुटम् ॥ ११५ ॥

कूपः प्रहिः, आदिना गिरिशृङ्गादेः ग्रहणम् । महागते बृहत्सुषिरे
कूपादौ स्थित्वा, सामीप्यं सप्तम्यर्थः । वटे गावः सुशेरते इतिवत्
महाश्वभ्रादिसमीपे स्थित्वा, ऊर्ध्वमेव कूपाद्याकाशनिश्चलदृष्टचव-
लोकनात् हेतोः, अविद्यमानो विकल्पो यस्याः सा तथाविधा मतिः

यस्य तस्य निर्विकल्पबुद्धेः भावकस्य तत्क्षणमेव चित्तप्रशान्तिः
निश्चितम् । बहुव्रीहिर्गर्भो बहुव्रीहिः ॥ ११५ ॥

यद्येवं परिस्फुरति नास्त्यत्र किमपि वेद्यावेद्यपतितं नीलपीतादि, परं तु
घोरतरं भैरवं वपुरत्राभासमानं भासत इति तात्पर्यार्थः ॥ ११५ ॥

अपरामाह—

यत्र यत्र मनो याति बाह्य बाभ्यन्तरेऽपि वा ।

तत्र तत्र शिवावस्था व्यापकत्वात्क यास्यति ॥ ११६ ॥

यस्मिन् यस्मिन् नीले सुखादौ च मनो—विकल्पः, संवेदनं याति
प्रसरति, तत्र तत्र स्फुरत्संवितासत्त्वे शिवस्य चित्तप्रकाशस्य अवस्था
अवस्थानं क्व यास्यति न क्वचित् गमिष्यति । अत्र हेतुः व्यापकत्वात्
इति । दिक्कालाकारैः प्रकाशसारत्वात् प्रकाशमानैः प्रकाशात्मनः
स्वात्मभैरवस्य अनवच्छेदात् इत्यर्थः । इयम् अवस्था तु योगशास्त्रे
समाधिषट्कपरिपाकलब्धो नित्यसमाधिः साक्षात्काररूपोऽयत्नायतः
सप्तमः समाधिरुक्तः । तथा च तत्रैव समाधिषट्कलक्षणम् उक्तम्,
यथा—समाधिर्नाम चित्तस्य अखण्डात्माद्वयब्रह्मातामात्रेण स्थिरीभावः,
स तु बहिरन्तर्वा विधेयः । तत्र हृदयान्तः कर्तव्यः समाधिः द्विविधः—
सविकल्पक-निर्विकल्पकभेदात् । सविकल्पोऽपि द्वेधा—दृश्यसंपृक्तः
शब्दसंपृक्तश्च । तत्र दृश्यसंपृक्तस्य समाधेरलक्षणं वाक्यमुधायाम्

‘कामाद्याश्चित्तसादृश्यात्तत्साक्षित्वेन चेतनाम् ।

ध्यायेद्दृश्यानुविद्धोऽयं समाधिः सविकल्पकः ॥’

इति । अयं स्थूलः सविकल्पकः समाधिः । सूक्ष्मं सविकल्पकं द्वितीयं
समाधिमाह तत्रैव ।

‘असङ्गः सच्चिदानन्दः स्वप्नभो द्वैतवर्जितः ।

अस्मीति शब्दविद्धोऽयं सविकल्पसमाहितः ॥’

इति । एवं यत्नतः क्रमेण समाधिद्वयसंपत्तौ स्वयमेव भवन्तं निर्वि-
कल्पसमाधिम् आह—

‘स्वानुभूतिरसावेशाद् दृश्यशब्दानुपेक्ष्य तु ।

निर्विकल्पः समाधिः स्यान्निवातस्थलदीपवत् ॥’

इति च । एवं सविकल्पी द्वौ, निर्विकल्पक एकः इति त्रयः समाधयः ।
एतत्समाधित्रयं सूर्यचन्द्राकाशादिबाह्यालम्बनं व्युत्पादयति

‘हृदीव बाह्यदेशेऽपि यस्मिन्कस्मिंश्च वस्तुनि ।

समाधिराद्यः सन्मात्रे नामरूपपृथक्स्थितः ॥’

इति दृश्यानुविद्धसविकल्पकः समाधिः । शब्दानुविद्धं सविकल्पकं
समाधिम् आह तत्रैव—

‘अखण्डैकरसं वस्तु सच्चिदानन्दलक्षणम् ।

इत्यविच्छिन्नचिन्तेयं समाधिर्मध्यमो भवेत् ॥’

इति । अत्रापि केवलब्रह्माकारत्वात् मनसो निश्चेष्टनिर्विकल्पकः
समाधिर्यथा—

‘स्तब्धीभावरसास्वादात्तृतीयः पूर्ववन्मतः ।

एतैः समाधिभिः षड्भिर्नयेत्कालं निरन्तरम् ॥’

इति । एतच्छ्लोकप्रतिबिम्बस्तु तत्रैव

‘देहाभिमाने गलिते विज्ञाते परमात्मनि ।

यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र समाधयः ॥’

इति ॥ ११६ ॥

‘यत्र यत्र मनो याति स्वतश्चञ्चलमस्थिरम् ।

ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥’

इत्यादिभगवन्मुखोक्त्या यत्र यत्र नीलपीतादौ मनो याति अन्तरात्मतया,
तत्र तत्र शिवावस्था इति निश्चयाद्भैरवाभिव्यक्तिः संजायते । तथा च
श्रीस्पन्दे

‘यस्मात्सर्वमयो जीवः सर्वभावसमुद्भवात् ।

तत्संवेदनरूपेण तादात्म्यप्रतिपत्तितः ॥

तेन शब्दार्थचिन्तासु न सावस्था न या शिवः ।

भोक्तैव भोग्यभावेन सदा सर्वत्र संस्थितः ॥

इति वा यस्य संवित्तिः क्रीडात्वेनाखिलं जगत् ।

संपश्यन्सततं युक्तो जीवन्मुक्तो न संशयः ॥’

(२८-२९-३०)

इत्यादिना प्रतिपादितमस्ति ॥ ११६ ॥

अपरामाह—

यत्र यत्राक्षमार्गेण चैतन्यं व्यज्यते त्रिभोः ।

तस्य तन्मात्रधर्मित्वाच्छ्रियाद्भरितात्मता ॥ ११७ ॥

यत्र यत्र नीलसुखादौ अक्षमार्गेण चक्षूरादिसुषिरमार्गेण त्रिभोः परभैरवस्य आत्मनः चैतन्यं चित्प्रकाशः अभिव्यज्यते स्फुरति, तस्य नीलादेः तन्मात्रधर्मित्वात् चैतन्यातिरेके चेत्यत्वाभावापत्तेः दर्पण-मात्रात्मकविचित्रप्रतिविम्बवत् प्रकाशस्थचैतन्यमात्रस्वभावत्वं विमृश्य विश्वभित्तिभूतायां चित्तौ एव यो लीयते तस्य परभैरवतैव । यथा घनीभूतः प्रकाश एव सूर्यमण्डलं जातम्, तथा चिदेव हि आश्यानीभूता जगदात्मना भाति इति आम्नायः ॥ ११७ ॥

यत्र यत्र शिवावस्थाध्यानेन चैतन्यं व्यज्यते त्रिभोः, तस्य च तन्मात्र-धर्मत्वात् दर्पणप्रतिविम्बिताभासवैचित्र्येण चैतन्यमात्रस्वभावत्वात् चित्तौ लयाद्विश्रान्तेर्भरितात्मता 'अहमेव विश्वमयो महच्चैतन्यभरित' इत्यनुभूतात्त्विक-कावस्थः संपद्यते, आश्यानीभूतहिमघृतादिवत् जलमयत्वापत्तेरिति भावः । १७।

अपरामाह—

क्षुताद्यन्ते भये शोके गह्वरे वा रणाद्भुते ।

कुतूहले क्षुधाद्यन्ते ब्रह्मसत्तामयी दशा ॥ ११८ ॥

समीपगा इति पाठान्तरम् । ब्रह्मसत्ता अनवच्छिन्नचिदानन्द-स्फुरत्ता समीपगा निकटस्थितैव इति । तां तत्र तत्र अवसरे विमृश्य सुप्रबुद्धः समाविशेत्, अप्रबुद्धः पुनरत्र मूढ एव इति । एषा शांभवी भूः ॥ ११८ ॥

‘अतिक्रुद्धः प्रहृष्टो वा किं करोमीति वा मृशन् ।

धावन्वा यत्पदं गच्छेत्तत्र स्पन्दः प्रतिष्ठितः॥’ (२२)

इत्यादिस्पन्दोक्तदिशा निर्दिष्टस्य भैरवरूपस्यामर्शनात् क्षुतादिषु गुरुमुखश्रुत-युक्त्या विभाव्य कृतकृत्यो भवत्येवेत्यर्थः । एतच्च तन्त्रालोकादौ वितत्य निर्णीतमस्ति तत एवावधार्यम् । ग्रन्थविस्तरभयान्नेह प्रतन्यते, तद्दिङ्मात्रेण उदाहृतमिति ॥ ११८ ॥

अपरामाह—

वस्तुषु स्मर्यमाणेषु दृष्टे देशे मनस्त्यजेत् ।

स्वशरीरं निराधारं कृत्वा प्रसरति प्रभुः ॥ ११९ ॥

स इति, तत् इति स्मृतिज्ञानेन वेद्यमानेषु पदार्थेषु अनुभवज्ञान-
विषये स्वाधारभूते मनः त्यजेत् प्रक्षिपेत्,—अनुभवपूर्वकत्वात् स्मृतेः ।
स्वदेहं निरालम्बनं विधाय, अनुभवरूपः प्रभुः स्मरणानुभवयोः स्मर्य-
माणानुभूयमानयोश्च एकानुसंधात्रात्मा प्रसरति प्रादुर्भवति ॥ ११९ ॥

स्मरणादिशक्त्या दृष्टे देशेऽनुभवशक्तौ स्वाधारभूतायां मनस्त्यजेत्
ऐकाग्रयेणादद्यात्, स्वशरीरं च निराधारमहिकञ्चुकवदसङ्गं विभातयेत्, ततः
प्रादुर्भवति स्वयमेव प्रभुरिति निश्चयः । अत्रायं भावः—अनुभवात् स्मरणादौ
सूत्र इव मणिगणः प्रोतश्चैतन्यप्रसर इति सिद्धम्, अतस्तमेव ध्यायेदिति
शेषः ॥ ११९ ॥

अपरामाह—

कचिद्वस्तुनि विन्यस्य शनैर्दृष्टिं निवर्तयेत् ।

तज्ज्ञानं चित्तसहितं देवि शून्यालयो भवेत् ॥ १२० ॥

कस्मिंश्चित् वस्तुनि दृष्टिम् अक्षिरूपां निक्षिप्य, कञ्चित् पदार्थं
दृष्ट्वा इत्यर्थः । शनैः शनैः तस्य पदार्थस्य ज्ञानं तद्विषयसंकल्प-
सहितं निवर्तयेत् शून्यभावनया अन्तर्लक्ष्यवहिर्दृष्टिन्यायेन वा, तेनैव
शून्ये आलयो—विश्रान्तिः यस्य एवं-विधः संयमी भवेत् । देवि शून्य-
लयो भवेत् इति पाठान्तरम् ॥ १२० ॥

कुत्रचित् दृष्टिं कृत्वा घटोऽयमिति, तद्वस्त्वनुभवं तद्वासनायुक्तं चित्ते
निधाय, शून्यमतिर्भवेत्—ब्रह्म संपद्यत इत्यर्थः ॥ १२० ॥

अपरामाह—

भक्त्युद्रेकाद्विरक्तस्य यादृशी जायते मतिः ।

सा शक्तिः शांकरि नित्यं भावयेत्तां ततः शिवः ॥ १२१ ॥

भक्तिरिति

‘न पादपतनं भक्तिर्व्यापिनः परमेशितुः ।

भक्तिर्भावस्वभावानां तदेकीभावभावनम् ॥’

इति कृतलक्षणा । उद्रेकः आधिक्यम् ॥ १२१ ॥

भक्त्यतिशयेन विरक्तस्य शान्तचित्तस्य चित्ते चित्तसमाधानेन यादृशी मतिर्जायते सा शांकारी शक्तिरिति गीयते इति तामेव भावयेत्, येन तन्मयः स्यात् ॥ १२१ ॥

अपरामाह—

वस्त्वन्तरे वेद्यमाने शनैर्वस्तुषु शून्यता ।

तामेव मनसा ध्यात्वा विदितोऽपि प्रशाम्यति ॥ १२२ ॥

कस्मिंश्चित् एकस्मिन् वस्तुनि ज्ञायमाने, सर्ववेद्येषु तदन्येषु बाह्याभ्यन्तरेषु वस्तुषु वेद्यमानेष्वपि शून्यता भावनीया, शून्यता तत्कालम् अनाभासनम् । तामेव वेद्याभावात्मकचित्प्रकाशरूपां शून्यतां मनसा निर्विकल्पसंविदा ध्यात्वा विमृश्य विदितोऽपि वेदनात् अपि प्रशाम्यति—शान्तब्रह्मस्वरूपो भवति । विदि-शब्द इकारान्तो भेद-प्रथारूपज्ञानवाचकः । तज्ज्ञानं तद्वस्त्वनुभवः चित्तसहितं तद्वासनायुक्तं क्वचिद्वस्तुनि इत्यत्र एकपदार्थमात्रं दृष्ट्वा तदनु तद्विषयसंकल्पज्ञानादिनिवर्तनम् उक्तम् । इह पुनर्वेद्यमानवस्तुज्ञानानन्तरं सर्ववेद्येष्वपि ज्ञायमानेषु शून्यताभावनया तद्वेदनादपि प्रशान्तिलक्षणो विशेषः ॥ १२२ ॥

‘अत्र नाथः समाचारं पटलेऽष्टादशेऽभ्यधात् ।

नात्र शुद्धिर्न चाशुद्धिर्न भक्ष्यादिविचारणम् ॥

न द्वैतं नापि चाद्वैतं लिङ्गपूजादिकं न च ।

न चापि तत्परित्यागो निष्परिग्रहतापि वा ॥

सपरिग्रहता वापि जटाभस्मादिसंग्रहः ।

तस्यागो न व्रतादीनां चरणाचरणं च यत् ॥

क्षेत्रादिसंप्रवेशश्च समयादिप्रपालनम् ।

परस्वरूपलिङ्गादिनामगोत्रादिकं च यत् ॥

नास्मिन्विधीयते किञ्चिन्न चापि प्रतिषिध्यते ।

विहितं सर्वमेवात्र प्रतिषिद्धमथापि वा ॥

किं त्वेतदत्र देवेशि नियमेन विधीयते ।

तत्त्वे चेतः स्थिरीकार्यं सुप्रयत्नेन योगिना ॥

तच्च गम्यं यथैव स्यात्स तथैव समाचरेत् ।
 एतन्मनसि संधाय वसिष्ठेन स्फुटं कृतम् ॥
 समाधिमथ कर्माणि मा करोतु करोतु वा ।
 तत्त्वे निश्चलचित्तस्तु भुञ्जानो विषयानपि ॥
 न संस्पृश्येत दोषैः स पद्मपत्रमिवाम्भसा ।'

अस्य योगिनः

‘पेयापेयं स्मृता आपो भक्ष्याभक्ष्यं तु पार्थिवम् ॥
 सूरूपं च विरूपं च तत्सर्वं तेज उच्यते ।
 निर्दोषं हि समं ब्रह्म तत्स्फुटं नित्यमभ्यसेत् ॥
 विषापहारिमन्त्रादिसंनद्धो भक्षयन्नपि ।
 विषं न मुह्यते तेन तद्वद्योगी महामतिः ॥
 अशुद्धं हि कथं नाम देहाद्यं पाञ्चभौतिकम् ।
 प्रकाशतातिरिक्ते किं शुद्ध्यशुद्धी हि वस्तुनि ॥’

अयमत्राशयः—एकस्मिन्वस्तुनि चित्स्वरूपत्वेन ज्ञायमाने अन्यत्र चाऽव-
 बुद्धिः—सर्वस्यास्य जगत एकरूपत्वापत्तेः, तस्मात् एकस्यैव वस्तुनोऽपि
 चित्स्वभावात् सर्वस्वरूपप्रसंगापत्तेरिति तत्सर्ववेद्यशून्यतां ध्यात्वा विचित्रतया
 संकल्पविकल्परहित्येन मुक्तः स्यादिति निश्चयः ॥ १२२ ॥

इति रहस्यशास्त्रोक्तनीत्या शुद्धचशुद्धिविकल्पं विहाय केवलचिद्विमर्शो
 निर्वाहः इत्याह—

अपरामाह—

किञ्चिज्ज्ञैर्या स्मृता शुद्धिः साऽशुद्धिः शंभुदर्शने ।

न शुचिर्ह्यशुचिस्तस्मान्निर्विकल्पः सुखी भवेत् ॥ १२३ ॥

किञ्चिन्मात्रबोधयुक्तैः धर्मशास्त्रज्ञैः या शुद्धिः मृज्जलादिना
 शुद्धभावः स्मृता सा शंभुदर्शने पारमेश्वरतत्त्वसाक्षात्कारे सति अशुद्धिः
 अशौचमेव—वक्ष्यमाणात् हेतोः । यद्वा शंभुदर्शने परमेश्वरभाषिते
 शास्त्रे किं तु साऽशुद्धिः, न शुचिः न नैर्मल्यं निर्देशस्य भावप्रधान-
 त्वात्, सा अन्यशास्त्रोक्ता शुद्धिः न शुचिः न शुद्धत्वं, किं तु हि

अशुचिः, हिः अवधारणे हेतौ वा अशुद्धतैव । मृदादिशुद्धेः तत्त्वज्ञानं प्रति अकिञ्चित्करत्वेन अनङ्गत्वात् । यदुक्तं महागुरुभिः

‘मृज्जलादिविशुद्धोऽपि न पवित्रो बहिर्मुखः ।

बहिर्निर्मलमध्यस्थपुरीषकलशादिवत् ॥’

इति । अशुद्धिः इति पूर्वम् अभिधाय, तदनु ‘न शुचिः’ इति उक्त्वापि पुनः ‘हि अशुचिः’ इति अशुचिपौनरुक्त्यं तत्त्वज्ञानानुपयोगित्वदाढर्य-प्रतिपादनार्थं, मृदादिशुद्धेः कर्माङ्गत्वात् तदधिकारिणि सा भवतु । यदुक्तम्

‘अस्नातस्तु पुमान्नाहो जप्याग्निहवनादिषु ।

स्नातोऽधिकारी सर्वत्र दैवे पित्र्ये च कर्मणि ॥

इति । एतत् तु न क्वचित् उक्तम्

‘तदा ज्ञानाधिकारोऽस्ति मृज्जलादिशुचिर्यदा ।’

इति । तत्त्वज्ञानं प्रति मृदादिशुद्धेः प्रतिबन्धकत्वं न भवति इत्यतः सापि अस्तु इति चेत्, भवतु एतत्-ज्ञानप्रतिबन्धकत्वाभावात्, परंतु ज्ञानं निरपेक्षं न कर्मवत् शुद्ध्यपेक्षम् । वयं तु जानीमहे-मृदादिना देहनैर्मल्ये क्रियमाणे, देहदर्शने जाते तत्सुन्दरतादिदर्शनेन तदभिमानोऽपि तत्त्वज्ञानिनो भवेदपि अन्तर्मुखत्वविस्मृत्या बहिर्मुख-तापत्तेः । ज्ञानिनस्तु तथा स्थितिर्विधेया यथा वारंवारं चिद्विमर्श-घनाभ्यासात् देहादिविस्मरणमेव भवेत्, स तु कदाचिदपि देहं न पश्यति । यदुक्तं श्रीभागवते

‘देहं च नश्वरमवस्थितमुत्थितं वा

सिद्धो न पश्यति यतोऽध्यगमत्स्वरूपम् ।’

इति । यदि न तत्त्वज्ञानोपकारिणी मृदादिशुद्धिः, तत्कथं भगवता गीतम्

‘आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ।’

इत्यादिना । शौचमपि तत्त्वज्ञानम् इति चेत् सत्यम्, मान्त्र-भौमा-ग्नेय-वायव्य-दिव्य-वारुण-मानसभेदेन सप्तविधं स्नानं स्कन्दपुराणे अभिहितम्

‘आपो हि ष्ठेति वै मान्त्रं..... ।’

इति आरभ्य

‘वारुणं चावगाह्यं तु मानसं विष्णुचिन्तनम् ।’

इति पर्यन्ते सर्वस्नानफलभूतं मुख्यं मानसस्नानम् उक्तम्, इत्यतः केवलवारुणस्यापि स्नानान्तरतुल्यत्वात्, प्रत्युत तस्यापि गौणत्वात् शौचपदेन विष्णुचिन्तनात्मकं मुख्यं स्नानं किं न वक्तुं शक्येतापि, इति विनिगमनाग्रहाङ्गीकरणं न साधु । धर्मशास्त्रोक्तत्वात् वारुणविधानं धर्मः, इति चेत् हन्त, तर्हि धर्मत्वाभ्युपगमात् परमधर्मः तत्त्वज्ञानात्मा मृदादिशुद्धिधर्मात् अभीष्टतरः । यदुक्तं याज्ञवल्क्य-स्मृतावेव

‘इज्याचारदमार्हिसादानस्वाध्यायकर्मणाम् ।

अयं स परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम् ॥’

इति । अन्यच्च अक्रियमाणायामपि मृदादिशुद्धौ परमात्मनो न काचित् हानिः—निराकारत्वेन आकाशतुल्यत्वात्, क्रियमाणायामपि न काचित् वृद्धिः । देहस्तु मृदादिशुद्धोऽपि मलिन एव, हि यस्मात् अन्यशास्त्रोक्ता अशुद्धिरेव । तस्मात् मृदादिशौचविनाकृतोऽपि निर्विकल्पज्ञानेन सति मनःशौचे त्यक्तमनोमलः सुखी भवेत् ॥१२३॥

धर्मशास्त्रविद्भिः

‘कृत्वालं पादशौचं विमलमथ जलं त्रिः पिवेद् ।’

इत्यादिना शुद्धिः कथिता सा चैव शुद्धिः निर्विकल्पसमाधिस्थस्य न शुचिर्नाप्य-शुचिरभेदापत्तेरिति पारमार्थिकपरमार्थः । तथा च

‘तनुं त्यजतु काश्यां वा श्वपचस्य गृहेऽथ वा ।

तज्ज्ञः कलङ्कं नाप्नोति हेम पङ्कगतं यथा ॥’

इत्यादिना स्मृतमस्ति ॥ १२३ ॥

अपरामाह—

सर्वत्र भैरवो भावः सामान्येष्वपि गोचरः ।

न च तद्व्यतिरेकेण परोऽस्तीत्यद्वया गतिः ॥ १२४ ॥

सर्वत्र सर्वेषु प्रदेशेषु भावो भैरवः—सत्स्वरूपो विज्ञात्रात्मा, न तु बौद्धादिवत् ज्ञेयशून्यरूपः, सामान्यजनेषु विवेकहीनेषु अपि गोचरो

ग्राह्य-सर्वेषां प्रमातृणां सकलप्रलयाकलादीनाम् अहं जानामि करोमि
इत्याद्यहम्-विमर्शस्य स्फुटतया स्फुरणात्, न तु भैरवव्यतिरेकेण अन्यः
कश्चित् अस्ति इति अहम्-विमर्शस्य ऐक्यम् । अहम्-रूप एव परमेश्वरः,
स तु प्रकट एव, किम् आणवाद्युपायत्रयेण, नहि स्फुटतरस्य उपाया-
न्वेषणम् उचितम् । यदुक्तम्

‘उपायजालं न शिवं प्रकाशयेद्
घटेन किं भाति सहस्रदीधितिः ।
विवेचयन्नित्यमुदारदर्शनः
स्वयं प्रकाशं शिवमाविशेत्क्षणात् ॥’

इति । तथा संवित्प्रकाशेऽपि

‘अपरोक्षे भवत्तत्त्वे सर्वतः प्रकटे स्थिते ।
यैरुपायाः प्रतन्यन्ते नूनं त्वां न विदन्ति ते ॥’

इति । महार्थमञ्जरी च

‘यं जानन्ति जडा अपि जलहार्योऽपि यं विजानन्ति ।
यस्यैव नमस्कारः स कस्य स्फुटो न भवति कुलनाथः ॥’

इति । श्रुतिरपि

‘उतैनं गोपा अदृशन्नुतैनमुदहार्यः ।
उतैनं विश्वा भूतानि स दृष्टो मृडयाति नः ॥’

इति ॥ १२४ ॥

‘दर्पणचिम्बे यद्वन्नगरग्रामादि चित्रमविभाणि ।
भाति विभागेनैव च परस्परं दर्पणादपि च ॥’

(प० सा० १२)

इत्यादिना सर्वत्र सर्वदा बाह्याभ्यन्तरेषु पदार्थेषु भैरवो भावः स्फुट इति, न
च तद्व्यतिरिक्तं किञ्चित् इति संबोधाप्त्या द्वयातीता गतिरद्वैतज्ञानं स्यात्,
तद्व्यतिरेके हि प्रकाशमानत्वाभावापत्तेः ॥ १२४ ॥

शाक्तीं भूमिम् उपदिशति

अपरामाह—

समः शत्रौ च मित्रे च समो मानावमानयोः ।

ब्रह्मणः परिपूर्णत्वादिति ज्ञात्वा सुखी भवेत् ॥ १२५ ॥

यच्च श्रीभगवता गीतम्

‘विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥’

तथा च शान्तरसादिनिदर्शने

‘अहौ वा हारे वा कुसुमशयने वा दृषदि वा
मणौ वा लोष्ट्रे वा बलवति रिपौ वा सुहृदि वा ।
तृणे वा ह्येणे वा मम समदृशो यान्तु दिवसाः
कदा पुण्येऽरण्ये शिवशिवशिवेति प्रलपतः ॥’

पुनश्च सिद्धान्तमुक्तावल्यां

‘स्नातं तेन समस्ततीर्थसलिले दत्ता च सर्वावनि-
र्यज्ञानां च कृतं सहस्रमखिला देवाश्च संतर्पिताः ।
संसाराच्च समुद्धृताः स्वपितरस्त्रैलोक्यपूज्योऽप्यसौ
यस्य ब्रह्मविचारणे क्षणमपि स्थैर्यं मनः प्राप्नुयात् ॥’

इत्येवं इच्छाज्ञानक्रियोल्लासं चिन्मयमेव विश्वप्रपञ्चं विज्ञाय सुखी भवतीति
भावः ॥ १२५ ॥

शांभवीं भूमिम् उपदिशति

एवं सति अपरामाह—

न द्वेषं भावयेत्कापि न रागं भावयेत्क्वचित् ।
रागद्वेषविनिर्मुक्तौ मध्ये ब्रह्म प्रसर्पति ॥ १२६ ॥

प्रसर्पति विकसति ॥ १२६ ॥

सर्पादौ द्वेषः, हारादौ च रागः, तद्विनिर्मुक्तस्वभावापत्तौ ब्रह्म संपद्यत
इति भावः ॥ १२६ ॥

अपरामाह—

यदवेद्यं यदग्राह्यं यच्छून्यं यदभावगम् ।
तत्सर्वं भैरवं भाव्यं तदन्ते बोधसंभवः ॥ १२७ ॥

यत् अवेद्य ज्ञेयदशानास्पदम्, अनुपादेयम्, यत् शून्यम्—

‘सर्वालम्बनधर्मश्च सर्वतत्त्वैरशेषतः ।

सर्वक्लेशाशयैः शून्यं न शून्यं परमार्थतः ॥’

इति उक्तस्वरूपम्—

‘सावस्था काप्यविज्ञेया मादृशां शून्यतोच्यते ।

न पुनर्लोकंरूढ्यैव नास्तिश्रयार्थानुपातिनी ॥’

इति उक्तत्वात् यदेव वेद्यस्य अग्रहणं तदेव शून्यत्वम्, तेन सुगत-
सुतभाविता शून्यभूरन्या, देवीनयोपासिनां च अन्या । एतदेव विमर्श-
दीपिकायां ध्वनितम्—

‘स्वतन्त्रं परिपूर्णं च शिवाख्यं शून्यधाम तत् ।

तत्त्वानि यत्र लीयन्ते यस्मान्समुदयन्ति च ॥

तत्त्वैश्वरास्ततो जातास्तत्रैव निवसन्ति च ।

क्षीयन्ते किल तत्रैव शिवाख्ये शून्यधामनि ॥

दर्शनान्तरदृष्टानि यानि शून्यान्तराप्यपि ।

तेषामुत्पत्तिविलयौ शिवशून्ये सदोदिते ॥

न तदस्ति न यत्तत्र न तदस्ति न यत्र तत् ।

अन्तर्वर्हीरूपतया ततोऽन्यन्नोपपद्यते ॥

उपेयमितरन्नास्ति स्वातन्त्र्यात्परमे नये ।

तदनादृत्य गाहन्ते सौगताः शून्यतां जडाः ॥’

इति स्वातन्त्र्यस्वरूपं तच्छून्यम्, तथा यदभावगं गगनकुसुमादि-
ष्वपि सत्तास्फूर्तिप्रदत्वेन महासामान्यरूपम्—

‘सा स्फुरत्ता महासत्ता देशकालाविशेषिणी ।’

इति उक्तत्वात्—

‘नमामः सर्वसामान्यं रूपं तत्पारमेश्वरम् ।’

इति उक्तेश्च, तत् एव सर्वस्वरूपं भैरवं भाव्यं-भैरवत्वेन भावनीयम्,
तद्भावनाप्रकर्षेण पर्यन्ते सम्यक् बोधो भवेत् । अभावव्यापकं महा-
सत्तास्वरूपं च प्रकटीकृतं महेश्वरानन्दपादैः—

‘कः सद्भावविशेषः कुसुमाद्भवति गगनकुसुमस्य ।

यत्स्फुरणानुप्राणोलोकः स्फुरणं च सर्वसामान्यम् ॥’

इति । सद्भावः सत्त्वम् तस्मात् विशेषो-भेदः असद्भावोऽसत्त्वम् इति यावत् । कोऽसद्भावो गगनपुष्पस्य सतः कुसुमात्-न कश्चित् इत्यर्थः । अत्र हेतुमाह यत्स्फुरणानुप्राण इति ॥ १२७ ॥

‘यतो वाचो निवर्तन्ते ह्यप्राप्य मनसा सह ।
आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्न विभेति कुतश्चन ॥’

‘न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥’

‘आनन्दात्खल्विमानि भूतानि जायन्ते आनन्देन
जातानि जीवन्ति आनन्दं प्रयन्ति अभिसंविशन्ति ।’

(तै० ३०३-६)

इत्यादिना प्रतिपादितं सर्वमेतद्ब्रह्मैव भवति, इति दृढानुभवबलान् सर्वत्र भैरवस्वरूपबोधवान् भैरव एव भवति-ब्रह्म सपद्यते इत्यर्थः ॥ १२७ ॥

अपरामाह—

नित्ये निराश्रये शून्ये व्यापके कलनोज्झिते ।

बाह्याकाशे मनः कृत्वा निराकाशं समाविशेत् ॥ १२८ ॥

नित्यत्वादिविशेषणप्रतिपादितव्याप्तिके बाह्यगगने मनो विम-
शत्मकं ज्ञानं कृत्वा समापन्नं विधाय निरालम्बनचिदुदये सति,
आकाशात् निष्क्रान्तम् अशून्यं धाम समाविशति इति शाक्त्येवेयं
भूः ॥ १२८ ॥

इत्येवं नित्यत्वव्यापकत्वानुभूते बाह्याकाश एव शून्यधारणातिशयेन
तदभ्यासातिशयाच्छून्यातिशून्यभूतं यद्वाम तत्रैव समाविशतीति भावः ॥

अपरामाह—

यत्र यत्र मनो याति तत्तत्तेनैव तत्क्षणम् ।

परित्यज्यानवस्थित्या निस्तरङ्गस्ततो भवेत् ॥ १२९ ॥

यत्र यत्र विषये मनः चाञ्चलयात् यानि, तत्तत् वस्तु तेनैव अवि-

कल्पसंवेदनेन मनसा तत्क्षणं परिहृत्य, पुनरपि गतं चेत् पुनरपि प्रत्याहृत्य

‘उभयाधीनश्चित्तवृत्तिनिरोधः ।’ (पा० १ सू० १२)

इति पतञ्जलिनीत्या

‘अभ्यासेनैव कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ।’

इति भगवत्संभाविते चित्तवृत्तिनिरोधे वैराग्याभ्यासयुगलदाढ्यार्त्त मनसो निरालम्बनताप्राप्तियुक्त्या परभैरवावेशवान् भवेत् । उक्तं च गीतासु

‘यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।

ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥’ (६-२७)

इति ॥ १२६ ॥

अविकल्पसंवेदनरूपेण मनसा तत्क्षणे तत्सर्वं परित्यज्य निरालम्बन-
प्राप्तियुक्त्या परभैरवस्वरूपवान् भवेदिति भावः ॥ १२६ ॥

अपरामाह—

भया सर्वं रवयति सर्वदो व्यापकोऽखिले ।

इति भैरवशब्दस्य संततोच्चारणाच्छिवः ॥ १३० ॥

भा ऐ रव—इति अक्षरचतुष्कस्य अयमर्थः—अनुत्तररूपोऽकारः, इच्छारूप इकारः, अनुत्तरविश्रान्तिरेव आनन्दः, इच्छायां विश्रान्तिः ईशनम्,—तेन एष क्रियाशक्तेः प्रारम्भः आकार ईकारश्च, भा संविद्रूपः प्रकाशः, इच्छा ईशनं च आनन्दवपुषि अनुत्तरपरधामनि च प्राग्भाविनि स्वरूपात् अप्रच्याविनि यदा अनुप्रविशति तदा अ आ इ ई—इत्येतत् एकारतया संपद्यते । अनुत्तरानन्दयोः इच्छायां प्रसरणेन एकारोत्पत्तिः, तत्रापि पुनरनुत्तरानन्दसंघट्टात् ऐकारोत्पत्तिः । अत एव संध्यक्षरसंज्ञा एकार-ऐकारयोः । अत एव

‘अवर्णं इवर्णं ए ।’

इत्यनेन अ आ ए—इत्येतत्, अकार-ऐकारयोः एकादेशेन अथवा आकार-ऐकारयोः एकादेशेन ऐ-भावः इति संवित्प्रकाशः शबलीभूतः ।

सा इयं स्फुटा क्रियाशक्तिः, स्फुटक्रियाशक्तिमत्त्वम् ऐकारार्थः । अत एव एकाक्षरकोशे

‘.... ऐकारः स्यान्महेश्वरः ।’

इति उक्तम् । तेन भैरवपदस्य अयमर्थः—भया संवित्प्रकाशरूपया ऐकारः क्रियाशक्तिमान् महेश्वरः सर्वं रचयति विमृशति इति भैरवः इति एतदेव अभिधेयम् । यद्वा भया ज्ञानात्मिकया शक्त्या ऐकारेण माहेश्वर्यव्यञ्जिकया क्रियाशक्त्या सर्वं विमृशति । यदुक्तं प्रत्य-
भिज्ञायाम्

‘.....जडभूतानां प्रतिष्ठा जीवदाश्रया ।

ज्ञानं क्रिया च भूतानां जीवतां जीवनं मतम् ॥’ (१।१।४)

इति । अथान्तरं तु द्वितीयपादेन आह—सर्वदो व्यापकोऽखिले इति । तथा भया सर्वं शुभाशुभं राति ददाति, सर्वं वाति अनुगच्छति व्यापकतया इति भैरवः

‘ईश्वरप्रेरितो गच्छेत्स्वर्गं वा इवभ्रमेव वा ।’

इति हि उपनिषत्, इति अहर्निशम् उच्चारणात् परमशिवीभावो भवति । एतदुच्चारणमाहात्म्यं श्रीमदभिनवगुप्तपादैः दर्शितम्

‘आत्मन्येव न मामि नाम विसरद्रोमाञ्चरेखाङ्कुरा-

क्रान्त्या किं च दवीयसीरपि दिशो जानामि रुन्धे हठात् ।

यन्मे भैरव भैरवेति रटतो हृद्ग्रन्थिर्विस्फोटन-

शुश्रूष्यत्पाशवपाशपञ्जरभरः

कायोऽप्यनन्तायते ॥’

इति । अत्र स्वदेहे अमानम् अप्रभवनम्, अतिदूराणां काष्ठानां वलात् आक्रमणज्ञानम्, त्रुट्यन्पशुसम्बन्धि पाशपञ्जरत्वं स्वकायस्य पराकाशायमानत्वं विना न संभवति इत्यतः—कायोऽप्यनन्तायते इति उक्तम् । समस्ततादात्म्यभावनया जीवन्मुक्ततायां परमेश्वरैक-
रूपतावेशात् परसिद्धिलाभः, यन्मया स्तुतम्—आत्मन्येव न मामि इति । एतत्तु विवृतिविमर्शिन्याम् अभिनवगुप्तपादैः दर्शितम् । इयं करङ्किणी मुद्रा ।

‘अनन्तं सुरवर्त्म खम् ।’

इत्यमरः । कायोऽपि मोक्षायते इति पाठान्तरम् ।

केचित्तु भ्रियात्सर्वं रवयति इति पठन्ति, तत् न साधु यदि भूरवः
 इत्यादिपदसिद्धिः स्यात् तर्हि एतत् संगच्छेत । यद्यपि प्रचुरपुस्त-
 वे ष्वपि एष पाठोऽस्ति, तथापि धारणपोषणार्थो भरतिः कतमदक्षर-
 मपेक्ष्य योजनीयः,—न तावत् भैरवपदमध्यात् भैकारापेक्षो भरतिः
 रेफापेक्षो वा वकारापेक्षो वा । समुदायपक्षे तु नहि 'भर' इत्यर्णयुगस्य
 भरणादिकं वकारमात्रस्य रवणार्थत्वं युक्तिमत् प्रथमं वर्णद्वयं संयोज्य
 पुनर्वकारस्य पूर्वसंगतरेफसंयोजनेन काकाक्षिन्यायापादनं न युक्तम्—
 कष्टकल्प्यत्वेन कलनागौरवात् । भरण-रवण-वमनार्थो भैरवः इति
 चिरन्तनार्थोऽपि न युक्तिसहो—भैरवपदस्येव सिद्धत्वात्, ऐकारस्य
 सुषिरपातो वकारवत् भैरवपदासिद्धिः । अन्यच्च द्वितीयचरणे तु
 परमेश्वरेणैव सर्वदत्तवम् अखिले व्यापकत्वं विवृतम् । तत् राति-वाति-
 क्रियायुगलार्थो द्वितीयपादोक्तः क्षेमराजादिभिः न चेतितो, यतो
 विज्ञानोद्योतमङ्गलश्लोकप्रारम्भे भरणाद्यर्थ एव प्रकटीकृतः । सर्व-
 धारकः, सर्वपोषकः, सर्वप्रदः, सर्वव्यापी, भैरवः इति मूलग्रन्था-
 भिधेयं विचार्य भीरूणामभयप्रदो भैरवः, तथा भवभयाक्रन्दस्य कारणं,
 भीरवरुचाम् ईशः, भानि नक्षत्राणि ईरयति चालयति इति भैरः कालः
 तं वायति इत्यादिस्वकपोलकल्पितस्वचातुर्यमात्रनैपुण्यप्रदर्शनविषये
 गजनिमीलनविधा इयम् । तदत्र सारासारार्थविवेकविषये सहृदया
 एव प्रमाणम्—इति क्षन्तव्यं गुरुभिः । एतज्जनकृतवर्णचतुष्काक्षर-
 योजनार्थस्तु तन्त्रालोकसारप्रदर्शितनयेनैव ज्ञेयः ॥ १३० ॥

विश्वमिदमखिलं भिया रवयति विमृशति, अथ वा अवति रक्षति नीला-
 नीलसुखवेद्यराशेः सर्वस्याहमिति विमर्शनात्—वाह्यान्तरे सर्वत्र 'अहमस्मि'
 इत्यनुभवदाढ्यार्थिगमाच्छिवः संपद्यते । तथा च 'न सावस्था न या शिवः'
 इत्यादिना एतदाम्नातमस्ति ॥ १३० ॥

अपरामाह—

अहं ममेदमित्यादिप्रतिपत्तिप्रसङ्गतः ।

निराधारे मनो याति तद्व्यानप्रेरणाच्छमी ॥ १३१ ॥

अहम्, मम इदम्—इत्यादिन्यूनाहन्ताज्ञानप्रसङ्गेनापि, निराधारे
 वस्तुनि प्रबुद्धगोचरे पूर्णाहिंभाव एव मनो याति—अहं-विमर्शस्य अत्रुटि-

तत्त्वेन निर्विशेषत्वात् । परमानन्दात्मकत्वं तु आत्मनो न कदाचित्
विच्छिद्यते—पूर्णाहम्-विमर्शस्य परमात्मत्वेन सर्वत्र सत्त्वात् । अप्र-
बुद्धादीनां सर्वेषाम् एक एव आत्मा, सर्वे हि स्वात्मन्येव रागिणः,
स्वात्मप्रेमैव परमेश्वरभजनम्

‘प्रेमैव ब्रह्म केवलम् ।’

इति उक्तत्वात् । अहं-विमर्शस्य न्यूनतापूर्णतादिना विच्छेदभावात्
प्रबुद्धात्मा अप्रबुद्धात्मा वा आनन्दस्वभाव एव । अतो महेश्वरानन्दा-
दिभिः विद्यायां वाप्यविद्यायां स्वानन्दसत्तया स्वात्मविषयं परं प्रेम
न कदाचित् हीयते इति उक्तम् । यथा—

‘नन्वात्मनः प्रियार्थं सर्वस्य प्रियत्वं भणति श्रुतिः ।

तस्मादानन्दस्वभावः आत्मा मुक्तोऽप्यमुक्तो वा ॥’

इति ।

‘मा न भूवं हि भूयासमिति प्रेमात्मनीक्ष्यते ।

अतस्तत्परमं तेन परमानन्दात्मात्मनः ॥’

इति ।

‘त्वमेवात्मेश सर्वस्य सर्वश्चात्मनि रागवान् ।

इति स्वभावसिद्धां त्वद्भक्तिं जानञ्जयेज्जनः ॥’

इति । तस्मात् न कश्चित् अप्रबुद्धो न कश्चित् प्रबुद्धः सुप्रबुद्धो वा,
किं तु स्वतन्त्रः परमेश्वर एव तथा तथा भाति । अवोधबोधसंबोध-
कल्पनया तत्स्वातन्त्र्यं विघटते, अतो बोधादिविकल्परहितत्वेन शान्तो
भवेत् ॥ १३१ ॥

‘अविनाशी वासुदेवो विष्णुर्विश्वम्भरो हरिः ।

इत्थं कीर्तनमात्रेण कलौ मोक्षो हि शाश्वतः ॥’

अहमिदं, मम, मया, इत्यादिप्रसङ्गेषु निराधारं मनः कृत्वा ‘नेदं नानास्ति
किञ्चित्’ इति, इत्यनेन तद्वचनान्ध्यसनेन, प्रेरणात् अहंविमर्शबलाधिगमात्,
जमी शान्तद्वन्द्वोऽवासपरनिर्वाणो जायत इत्यर्थः ॥ १३१ ॥

इति पाञ्चरात्रमतं कटाक्षेण प्रमाणयन् शक्तीं भूमिम् आह—

अपरामाह—

नित्यो विष्णुर्निराधारो व्यापकश्चाखिलाधिपः ।

शब्दान् प्रतिक्षणं ध्यायन् कृतार्थोऽर्थानुरूपतः ॥ १३२ ॥

विभुः परमेश्वरो नित्यत्वादिस्वरूपः इति अर्थानुगुण्येन तान् शब्दान् मुहुः चिन्तयन् कृतकृत्यो भवति इत्यर्थः । भट्टनारायणेनापि नामकीर्तनमाहात्म्यं स्तवचिन्तामणौ पदे पदे अभिहितम्

‘नामापि ध्यायतां ध्यानैः किमन्यालम्बनैः फलम् ।’

इत्यादिना ॥ १३२ ॥

विभुः सर्वज्ञः सर्वत्र शिव एव इत्येवं प्रतिक्षणं ध्यायन् प्रकृतार्थानुरूपतया पदार्थदृष्ट्या कृतकृत्यो भवत्येवेत्यर्थः, जानामि करोमि इत्यत्रैव मुक्तस्वभावः स्यादिति भावः । तथा च स्पन्दे

‘गुणादिस्पन्दनिःस्पन्दाः सामान्यस्पन्दसंश्रयात् ।
लब्धात्मलाभाः सततं स्युर्ज्ञस्यापरिपन्थिनः ॥ १९ ॥
अप्रबुद्धधियस्त्वेते स्वस्थितिस्थगनोद्यताः ।
पातयन्ति दुरुत्तारे घोरे संसारवर्त्मनि ॥ २० ॥
अतः सततमुद्युक्तः स्पन्दतत्त्वविविक्तये ।
जाग्रदेव निजं भावमचिरेणाधिगच्छति ॥ २१ ॥’

इत्यादिना निर्णीतमस्ति ॥ १३२ ॥

द्वैतप्रपञ्चज्ञानं भ्रम एव, इति वेदान्ताभिमतम् इन्द्रजालधारणाम् आह

अपरामाह—

अतत्त्वमिन्द्रजालाभमिदं सर्वमवस्थितम् ।
किं तत्त्वमिन्द्रजालस्य इति दाढ्याच्छमं ब्रजेत् ॥ १३३ ॥

अतत्त्वं निस्तत्त्वरूपम्, अत एव इन्द्रजालतुल्यम् । किं तत्त्वम्—न किञ्चिदित्यर्थः । अतः सर्वम् इदमिन्द्रजालवत् प्रतीयते, न वस्तुसत् इत्यर्थः ॥ १३३ ॥

अतत्त्वमसारम् इन्द्रजालवदिति प्रतीत्या—सर्वमिदमिन्द्रजालतुल्यमेव

तत्परं सद्वस्तु व्यपदेशं प्रमातृतत्त्वमिति भावनादाढ्येन तत्त्वविदः निर्वाण-
पदावाप्तिर्भवेदिति भावः ॥ १३३ ॥

अपरामाह—

आत्मनो निर्विकारस्य क ज्ञानं क्व च वा क्रिया ।

ज्ञानायत्ता बहिर्भावा अतः शून्यमिदं जगत् ॥ १३४ ॥

बोधात्मकस्य चिदात्मनो निर्विभागत्वेन निर्विकारत्वात् ज्ञानं
क्व, क्व च वा क्रिया, ज्ञानक्रिये विकार एव, तदायत्ता बाह्याः
पदार्थाः, अतः सर्वम् इदं शून्यमेव ध्यायेत् । यदुक्तं चन्द्रज्ञाने

‘अथ ऊर्ध्वं दिशः सर्वा भूमिरापोऽनलस्तथा ।

वायुश्च खं मनो बुद्धिरहङ्कारश्च ये गुणाः ॥

सर्वं शून्यं निरालम्बं तत्र सर्वं प्रतिष्ठितम् ।

यत्किञ्चित्सकं भावरूपं तन्त्रेषु वर्णितम् ॥

तदसारतरं चन्द्र मायास्वप्नोपमं स्थितम् ।

भ्रान्तिं त्यजस्व वै पुत्र सर्वं शून्ये प्रतिष्ठितम् ॥

शून्यात्प्रवर्तते शक्तिः शक्तर्वर्णाः प्रजङ्गिरे ।

वर्णेभ्यश्च तथा मन्त्रा मन्त्रेभ्यः सृष्टिरव्यया ॥

तस्माच्छून्यं जगद्व्यायेद्यन्न नश्येत्कदाचन ॥’

इति । अतश्च ज्ञेयकार्यादिरूपं जगदपि न किञ्चित् इति निरूढशुद्ध-
संविदोऽनुत्तरभावप्राप्तिः । इति ज्ञात्की भूः ॥ १३४ ॥

ज्ञानक्रियादिशक्त्ययोगाज्ज्ञेयादिकल्पना कुतः, न कुतश्चन । अतो निर्वा-
कल्पात्मकस्य निर्विकल्पमेवेदं जगत्प्रतिभासते इति भावः । तथा च
मालिनीविजये

‘या सा शक्तिर्जगद्धातुः कथिता समवायिनी ।

इच्छात्वं तस्य सा देवि सिसृक्षोः प्रतिपद्यते ॥

सैकापि सत्यनैकत्वं यथा गच्छति तच्छृणु ।

एवमेतदिति ज्ञेयं नान्यथेति सुनिश्चितम् ॥

ज्ञापयन्ती जगत्यत्र ज्ञानशक्तिर्निगद्यते ।

एवं भवत्विदं सर्वमिति कार्योन्मुखी यदा ॥

जाता तदैव तत्तद्वत्कुर्वत्यत्र क्रिया मता ।
 एवं यथा द्विरूपैव पुनर्भेदैरनेकधा ॥
 अर्थोपाधिवशाद्याति चिन्तामणिरिवेश्वरी ।
 तत्र तावत्समापन्ना मातृभावं विभिद्यते ॥
 द्विधा च नवधा भेदैः पञ्चाशद्धा च मालिनी ।'

इत्यादिना प्रकाशितोऽयमर्थः ॥ १३४ ॥

अपरामाह—

न मे बन्धो न मोक्षो मे भीतस्यैता विभीषिकाः ।
 प्रतिविम्बमिदं बुद्धेर्जलेष्विव त्रिवस्वतः ॥ १३५ ॥

मम चिन्मात्ररूपस्य न बन्धो, मोक्षो वा,—देशकालाद्यपरिच्छिन्न-
 त्वात्, परिच्छिन्नस्यैव बन्धमोक्षभावात्, केवलम् एताः बन्धमोक्षादि-
 कल्पना मायाशक्तिवशात् अपरामृष्टस्वरूपस्य भोतस्यैव

‘द्वितीयात् वै भयं भवति’

इति द्वैतत्रस्तस्य, न तु चिदद्वैतपरामर्शशीलस्य विभीषिकाः—चटक-
 भीत्युत्पादनशालिरक्षणार्थाः पलालपुरुषाद्याः । तत्त्वज्ञानिनस्तु किं
 करिष्यन्ति एताः—अनेन बन्धनम्, इदं न कर्तव्यम्, इदं कर्तव्यम्,
 अनेनैव मोक्षः, इत्याद्याः कल्पनाः

‘निस्त्रैगुण्ये पथि विहरतां को विधिः को निषेधः ।’

इति शुक्रमुन्युपदेशात् । उक्तं च कल्हणकविना

‘शालीन्पलालपुरुषोऽवति यः कृशानु-
 दग्धाननश्चटकपेटकभीतिदानैः ।
 त्रातुं स एव विहितो विपिने विदध्यात्
 किं तत्र भञ्जनकृतां वनकुञ्जराणाम् ॥

इति । यथा सूर्यस्य बिम्बमेव प्रतीपं जलमध्ये अस्ति, तथा बुद्धिरेव
 परिमितविषया—बद्धोऽहं मुक्तोऽहम् इत्याकारा प्रतीपा इति मम किम्
 आयातम्, बुद्ध्याद्यवभासकत्वेन तदतीतत्वात्—इति बुद्धिमेव
 त्यजेत् ॥ १३५ ॥

‘मायापरिग्रहवशाद्बोधो मलिनः पुमान्पशुर्भवति ।’

(प० सा० १६)

इत्यादिना निर्णीतोऽयमर्थः परमार्थसारे सुस्पष्टः । अथ च तत्रैव

‘गच्छति गच्छति जलं इव हिमकरविम्बं स्थिते स्थितिं याति ।

तनुकरणभुवनवर्गे तथायमात्मा महेशानः ॥’ (प० सा० ७)

इत्यादिना, एतत्सर्वं बुद्धेः प्रतिविम्बितमेव सूर्यचन्द्रमसोरिव जलप्रतिविम्बादौ ।

इत्थं दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्बोध्यमिति भावः ॥ १३५ ॥

अन्तःकरणत्यागम् उक्त्वा बाह्यकरणत्यागधारणाम् आह—

अपरामाह—

इन्द्रियद्वारकं सर्वं सुखदुःखादिसंगमम् ।

इतीन्द्रियाणि संत्यज्य स्वस्थः स्वात्मनि वर्तते ॥ १३६ ॥

सम्बध्यमानसुखदुःखादिमग्नं सर्वम् इन्द्रियद्वारायातम्, न तु मम चिदात्मनो वास्तवम् इत्यतो हेतोः इन्द्रियाणि परित्यजेत् । इन्द्रियाणाम् एष एव सम्यक् त्यागो—यत् स्वस्थत्वं स्वरूपावस्थितत्वम् ।

‘एते हि चिद्विलासान्ता मनोबुद्धीन्द्रियादयः ।’

इति उक्तनयेन स्वस्वरूपचिन्मात्रविलासज्ञानम् इन्द्रियाणां स्वस्थत्वं वर्तते । वर्तते इति लिङ्गर्थे लट् । ततश्च आत्मसंस्थ एव तिष्ठेत् ॥ १३६ ॥

द्रष्टा दृश्यं दर्शनं च इति भेदकल्पनात्यागादात्मनि स्वस्थः—स्वात्मैव भवति इत्यर्थः ॥ १३६ ॥

अपरामाह—

ज्ञानप्रकाशकं सर्वं सर्वेणात्मा प्रकाशकः ।

एकमेकस्वभावत्वात् ज्ञानं ज्ञेयं विभाव्यते ॥ १३७ ॥

सर्वं प्रकाश्यं वेद्यं वस्तुजातं ज्ञानप्रकाशकम् अस्ति ।

‘कृत्यल्युटो बहुलम् ।’ (पा० व्या० ३।३।११३)

इति ज्ञानपदस्य कर्तरि प्रयोगेन ज्ञानं वेदकात्मा प्रकाशको यस्य तदेवम्-विधम् वेदकप्रकाश्यं वेद्यम् इत्यर्थः । वेदकसाध्यं वेद्यत्वम्

उक्त्वा वेद्यसाध्यं वेदकत्वम् आह सर्वेणात्मा इति । सर्वेण वेद्यजातेन आत्मा वेदकः प्रकाशकारी भवति । वेद्यम् ऋते किमपेक्षं वेदकत्वं वेदकस्य, वेदकः इति कस्य वेदकः इत्यर्थः । अतो वेद्य एव जीवितं ददाति वेदकस्य इति । वेद्यत्वं वेदकत्वस्वरूपम्, वेदकत्वं वेद्यत्वात्म-
एकप्रकृतिकत्वात् । अतो ज्ञानं वेदकम्, ज्ञेयं वेद्यम् एकमेव तत्त्वं विशेषेण भावयेत् । यदुक्तम्—

‘यावन्न वेदका पते तावद्वेद्याः कथं प्रिये ।

वेदकं वेद्यमेकं तु तत्त्वं नास्त्यशुचिस्ततः ॥’

इति । किं च

‘प्रकाशमानं न पृथक्प्रकाशात्

स च प्रकाशो न पृथग्विमर्शात् ।

नान्यो विमर्शोऽहमिति स्वरूपात्

अहंविमर्शोऽस्मि चिदेकरूपः ॥’

इति नीत्या प्रकाशकं ज्ञानं न आत्मनः पृथक्, सर्वशब्दवाच्य ज्ञेयजातं ज्ञानात् न पृथक् इति ऐक्यं भावयेत् ॥ १३७ ॥

‘प्रकाशमानं न पृथक्प्रकाशात्

स च प्रकाशो न पृथग्विमर्शात् ।

नान्यो विमर्शोऽहमिति स्वरूपा-

दहं विमर्शोऽस्मि चिदेकरूपः ॥’

इति नीत्या न किमपि प्रकाशाद्व्यतिरिक्तं भाति वर्तते वा,

‘ज्ञानं ज्ञेयं तथा ज्ञाता त्रितयं नास्ति वास्तवम् ।’

इत्यादिलक्षणेन च सर्वं चिन्मयमेव विभाव्य, यज्ज्ञानं तदेव ज्ञेयादि इत्यादि तत्त्वज्ञाननिष्ठः संभवति इति भावः ॥ १३७ ॥

अधुना निर्विकल्पदशाप्राप्त्यर्थं पूर्वोक्तद्वादशोत्तरशतशून्यभूमिषु, एकस्यामपि विश्रान्तानां प्रमातृणां यावज्जीवं जीवन्मुक्ततायां, देहपाते पुनस्तेषां विदेहमुक्तिः—पारमेश्वरस्वरूपाभेदात् तत्तुल्यता,

‘न तस्य प्राणा उत्कामन्ति अत्रैव समवलीयन्ते ।’

इति उपनिषत्प्रामाण्यात् निष्कलब्रह्मोपासकानां न कुत्रचित् गतागतं पशुप्रमातृषु स्वर्गनिरयगमनमिव, सकलब्रह्मध्यायिषु अचिरादिमार्ग-

गमनमिव उत्क्रान्तिरपि तेषां नैव भवेत् । किं तु निष्कलब्रह्मोपासक-
प्राणानां तप्तकटाहप्रक्षिप्तजलबिन्दुवत् तत्रैव लयो, यत् स्थानम्

‘जिज्ञासारहितं शुद्धं निर्विकल्पं परं पदम् ।’

यदाह कठवल्ल्युपनिषत्

‘यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह ।

बुद्धिश्च न विचेष्टेत तामाहुः परमां गतिम् ॥’

इति परमगतिशब्दप्रतिपादितम् पूर्वोक्तलक्षणभैरवशरीरमेव तेषां
स्वतः सिद्धं, न पुनः प्रेत्य बाह्यतिलान्नमध्वादिपिण्डसाधनापेक्षा
कार्ममलावृताणुसंघवत्, एतत् सर्वम् अभिप्रेत्य आह—

अपरामाह—

मानसं चेतना शक्तिरात्मा चेति चतुष्टयम् ।

यदा प्रिये परिक्षीणं तदा तद्भैरवं वपुः ॥ १३८ ॥

मानसं संकल्पात्मकम्, चेतना बुद्धिः, शक्तिः प्राणाख्या, आत्मा
एतदुपहितः परिमितप्रमाता, एतत् चतुष्टयं यदा परिक्षीणं चिच्च-
मत्कारम् आपन्नं तदा तत् पूर्वोक्तं भैरवं वपुः ‘अन्तः स्वानुभवानन्दा’
इत्यादिकम् । यद्येवं तर्हि कर्तृत्वज्ञातृत्वे प्रमोतस्यापि जीवन्मुक्त्यव-
स्थायामिव कथं न उपलभ्येते, ? इति चेत्, रहस्यं शृणु—स्वतन्त्रो
नित्यः परमेश्वरः, तस्य एतदेव स्वातन्त्र्यं—यत् देहेन्द्रियादिभिः जीव-
दशाभ्युपगमे क्रीडनकैः खेलनं कदाचित् स्वस्वरूपविश्रान्त्या बाह्य-
स्पन्दनं परित्यज्य प्रतिष्ठितस्पन्दाभ्युपगमः सुषुप्त्यादिवत्, पिण्ड-
पातानन्तरं अक्षुब्धा निष्क्रियावस्था हि स्वतन्त्रेण परात्मना अभ्यु-
पगता इत्यतो ज्ञातृत्वाद्यनुपलब्धिः । इयमेव अवस्था श्रीभगव-
द्गीतासु

‘तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ।’ (२।१४ गीता)

इति मालामन्त्रावसरे भैरववपुःस्वरूपा देहान्तरप्राप्तिरेव द्वैपायनेन
निदिष्टा । उक्तं च भैरवस्रोतसि अनुत्तरभट्टारके

‘मृतचेष्टस्य पिण्डस्य न किञ्चिदुपलभ्यते ।

सुखं दुःखं न चैवास्ति परमानन्दभावनात् ॥

जिज्ञासारहितं स्थानं यत्र देवो निरञ्जनः ।
 अकालकलनाहेतुर्गमागमविवर्जितः ॥
 निरालम्बो निरुत्साहः शून्यभूतः शिवः स्वयम् ।
 संज्ञानाशेन निर्जीवसंज्ञा सा व्योमरूपिणी ॥'

तथा तत्रैव देवीं प्रति वचनान्तरम्

'विचरामि न चैकाकी कदाचिच्छून्यरूपता ।
 सर्वं सर्वमयश्चाहं तद्रमेऽहं त्वया सह ॥
 कदाचिदीदृशं विश्वं दृश्यमेतदितीरितम् ।'

इति । अनेन अभिप्रायेण जैमिनीया अपि अन्त्येष्टिसमये निर्जीव-
 स्यापि पिण्डस्य विष्णुसंबन्धेकविंशतिस्नानानि वितरन्ति, अन्यथा—

'अविनाशी वा अरे अयमात्मा ।'

'नित्यो नित्यानां ।'

'न जहाति मृतं चापि सर्वव्यापी धनञ्जयः ।'

इत्येवमादीनि वाक्यानि अप्रमाणानि स्युः । तस्मात् पञ्चत्वेऽपि भैरवं
 वपुः निर्विकल्पमेव, इति न कश्चित् दोषः । जयरथोऽपि एतद्रहस्यनय-
 निष्ठितानां तीर्थादिकमपि अनुपयुक्तमेवाह, यदुक्तं स्तोत्रे—

'बहुलमहसि बोधे प्रोच्छलत्येकरूपे
 जननमरणभाषां कातराः कल्पयित्वा ।
 अविदितपरमार्थस्तीर्थदेवालयादि-
 श्रयणमुपदिशन्तो हन्त नापन्नपन्ते ॥'

इति । तत एतन्मार्गश्रद्धावतां विवेकिनां जीवन्मुक्तिरपि तृणमिव
 भासते, का कथा पशुदर्शनजीवितभूताया अन्त्येष्टिवार्तायाः, यत्
 स्तोत्रेऽपि

'नयकलनया यस्योद्भूते विवेकपरामृते
 तृणमिव न सा जीवन्मुक्तिर्गता गणनीयताम् ।
 प्रमयसमये प्रत्यासन्नै स्वसंविदि संस्फुरन्
 अभिलषति नैवान्त्येष्टयाद्याः क्रियाः पशुकल्पिताः ॥'

इति । मृतस्य पिण्डरचनापि उपहास्यैव । यदुक्तम्—

‘प्राग्जन्मकोटिसमुपार्जितदुष्कृतौघ-

खेदावहं कमपि पिण्डमवैति जन्तुः ।

ऊर्ध्वोर्ध्वशासनरतोऽपि गुरुर्मृताय

तस्मै समर्पयति पिण्डमिति प्रमादः ॥’

इति । एतन्नयावलम्बिनो मरणं जीवितं च तुन्यतया इत्याह । मरणं जीवितं च देहस्यैव, न तु आत्मनः

‘जीवापेतं वाव किल इदं म्रियते न जीवो म्रियते ।’

इति श्रुतेः । एतन्निस्तरङ्गोपदेशमध्यात् एकयापि धारणया नैश्रल्ये सति, अस्य योगिनो द्विविधा दशा-जीवन्मुक्तिः सति देहे, पिण्ड-पातानन्तरं तु विदेहमुक्तिः इति । तत्र यावत् जीवावस्थायां मानसादि-चतुष्टयं परिक्षीणमेव, सर्वत्र सर्वदा चिन्मात्रावहितत्वेन तच्चमत्कारा-पन्नत्वात् सर्गस्य, देहपाते तु शान्तबोधाख्यं देहान्तरमेव परमेश्वर-स्वरूपत्वात्, न तु अन्यदेहान्तरप्राप्तिरुत्क्रम्यते, नहि सर्वगतस्य आत्मनः उत्क्रान्तिः संभवति । यदुक्तं वीरयामले—

‘उत्क्रान्तिर्विद्यते यस्य तस्य स्यान्मानकल्पना ।’

मानं परिच्छेदः इत्यर्थः ।

‘अमाने शून्यनिर्भासे कस्योत्क्रान्तिः क्व च क्रमेत् ॥

यदि सर्वगतो देवो वदोत्क्रम्य क्व यास्यति ।

अथासर्वगतो देवो घटतुल्यस्तदा भवेत् ॥’

इति । इति प्रेत्य मुक्तिः जीवन्मुक्तस्यैव, न तु देहाभिमानिनः कर्म-जडस्य, तस्य मलिनवासनाश्रयत्वेन परलोकगमनमेव, श्राद्धपिण्ड-दानादिकं तदुपयोग्येव, यत् देहाभिमानवासना श्रीमदाचार्याभिनव-गुप्तपादैः दर्शिता वार्तिके

‘अस्ति मे पिण्डदोऽद्याहं पिण्डदानक्रमात्तथा ।

प्राप्नोम्यवयवाभोगं पूर्णदेहोऽस्मि सुस्थितः ॥

अदृष्टक्रियया पुत्रशिष्यस्वात्मादिवत्सया ।

स्वर्गभाग्यहमत्यन्तमात्तसद्भोगसुस्थितः ॥

नास्ति मेपिण्डदः कश्चित्स्वयं चास्म्यतिदुष्कृती ।

न मे त्रातास्ति कुत्रापि पतामि नरकार्णवे ॥’

इति । स्वसंवित्सफार एव तथा तथा स्वनिरयफलको भ्रान्त्यैव, न तु तत्त्वतः । इति अलम् अप्रकृतेन ॥ १३८ ॥

मानसं मनः, चेतना बुद्धिः, शक्तिः प्राणशक्तिः, आत्मा च एतदुपाधिमयी जीव इति कथ्यते, इत्येतच्चतुष्टयमुपाधिमयं मायीयोपाधिगलितं यदा क्षीणं-यदा क्षीयते, तदा चिच्छेषतया हिमनिर्मुक्तभास्करवत् प्रकाशमानः प्रकाश एवावशिष्यते-इति दृढानुभवसमधिगमात् साक्षाद्भैरव एव भवतीति भावः ॥

एतत् उपसंहरति—

अपरामाह—

निस्तरङ्गोपदेशानां शतमुक्तं समासतः ।

द्वादशाभ्यधिकं देवि यज्ज्ञात्वा ज्ञानविज्जनः ॥ १३९ ॥

द्वादशाभ्यधिकं शतं द्वादशोत्तरशतम् ॥ १३९ ॥

इत्थं मया धारणोपदेशानां द्वादशाभ्यधिकं शतमुक्तम्, एतदेव विज्ञाय साक्षाद्भैरवसारूप्यमेवैतीति तात्पर्यम् ॥ १३९ ॥

अपरामाह—

अत्र चैकतमे युक्तो जायते भैरवः स्वयम् ।

वाचा करोति कर्माणि शापानुग्रहकारकः ॥ १४० ॥

अत्र च एकतमे-एतेषु उपदेशेषु मध्ये एकस्मिन्नपि, युक्तः समाहितः, वाचा, न पुनः प्रयत्नेन इत्यर्थः ॥ १४० ॥

एतासु धारणास्वन्यतमनिष्ठावान् मायीयोपाधिसंवलितवेद्यराशिपति-तेन्द्रियगणोऽपि, वाचा कथनमात्रेण शापानुग्रहादिकर्माणि करोति, तत्रापि तथैव समाध्येकीभावनया तत्तदुज्जित्य निस्तरङ्गप्रकाशवान् भैरवः साक्षाद्भवतीति निश्चयः ॥ १४० ॥

अजरामरतामेति सोऽणिमादिगुणान्वितः ।

योगिनीनां प्रियो देवि सर्वमेलापकाधिपः ॥ १४१ ॥

‘अपाम सोमममृता अभूम्’

इत्यादिनोक्तधारणाभ्यासदाढर्चेन अजरामरतां संप्राप्य, विज्ञानात्मकसोम-

पानात्, योगिनीनां-ज्ञानक्रियानन्दादिशक्तीनां प्रभुः स्वामी, सर्वत्र मेलापकृत् सकलस्यास्य वेद्यवेदकादिराशेः खिलीकृतस्वभावोऽत्यन्तनिर्मलचिद्वपुरद्वैत-प्रकाशमयः परमात्मा भैरवः संपद्यते, इति तात्पर्यार्थः ॥ १४१ ॥

जीवन्नपि विमुक्तोऽसौ कुर्वन्नपि च चेष्टितम् ।

श्रीदेवी उवाच—

इदं यदि वपुर्देव परायाश्च महेश्वर ॥ १४२ ॥

इदम् इति उक्तरीत्या सर्वमयव्यवस्थायां सत्याम्, जप्यते को जपश्च कः-भेदस्य अभावात् ॥ १४२ ॥

जीवन्मुक्त एवासी, पश्यन्नपि शृण्वन्नपि जिघ्रन्नपि-इत्यादिक्रियाः कुर्वन्न लिप्यते । तथा च भगवान्

‘पश्यच्छृण्वन्स्पृशन् जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्चवसन् ।

प्रलपन्विस्मृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्नमिषन्नपि । (५-८)

ब्रह्मण्यादाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।

लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ।’ (५-१०)

इत्यादिना समादिशति । तथा च स्पन्दे

‘गुणादिस्पन्दनिःस्पन्दः सामान्यस्पन्दसंश्रयात् ।

लब्धात्मलाभाः सततं स्युर्ज्ञस्यापरिपन्थिनः ॥’ (१९)

इत्यादिना निर्णीतमस्ति । तस्मात् कर्माणि कुर्वन्नपि च न लिप्यते इति सिद्धम् ॥

ताद्रूप्येण भेदं संदिहानेव पुनरपि पृच्छन्ती

एवमुक्तव्यवस्थायां जप्यते को जपश्च कः ।

ध्यायते को महानाथ पूज्यते कश्च तृप्यति ॥ १४३ ॥

हूयते कस्य वा होमो यागः कस्य च किं कथम् ।

महानाथ हे देव ! कस्य वा किमर्थम् ॥ १४३ ॥

स्पष्टमेतत् ॥

श्रीभैरव उवाच—

एपात्र प्रक्रिया बाह्या स्थूलेष्वेव मृगेक्षणे ॥ १४४ ॥

प्रक्रिया जपादिका । परे भावे विश्वपूरणे स्वस्वभावे या भावना विमर्शना

‘अहमेव परो हंसः शिवः परमकारणम्’

(स्व० ४ प० श्लो० ३६५)

इत्यादिरूपा भाव्यते संपाद्यते ॥ १४४ ॥

उक्तानुयोगनिर्धारणां समादिशन्

भूयो भूयः परे भावे भावना भाव्यते हि या ।

जपः सोऽत्र स्वयं नादो मन्त्रात्मा जप्य ईदृशः ॥ १४५ ॥

स एव नादः अकृतकाहंविमर्शात्मा जपनीयो देवः । या भावना निष्पाद्यते स जपः इति अन्वयः । जप्यम् आह स्वयं नादो मन्त्रात्मा इति

‘पृथङ्मन्त्रः पृथङ्मन्त्री न सिद्ध्यति कदाचन ।’

इति न्यायात् । अत्र सूक्ष्मवस्तूपदेशमये शास्त्रे ॥ १४५ ॥

प्रक्रिया बाह्या—जपपाठतीर्थाटनादिप्रक्रिया, परे तत्त्वे बाह्येति कथ्यते ॥

ध्यानं हि निश्चला बुद्धिर्निराकारा निराश्रया ।

न तु ध्यानं शरीराक्षिमुखहस्तादिकल्पना ॥ १४६ ॥

निश्चला प्ररूढा, निराकारा नानोल्लेखशून्या, निराश्रया कन्दहृद्-द्वादशान्ताद्याश्रयहीना ॥ १४६ ॥

सोऽहं ब्रह्मेति शब्दस्य अनाहताद्यस्य श्रवणाज्जपः, ईदृङ्मन्त्रात्मतया जाङ्गलश्च मन्त्रः, वेद्यावेद्यपतितापि समाधानवलान्निवातदीपवद्या निश्चला बुद्धिस्तद्वचनमिति कथ्यते, अत एव निर्विकारा निराश्रया चेति ॥ १४६ ॥

अपरत्र बाह्योपकरणपूर्वा पूजा, अस्मिन् दर्शने तु निर्विकल्प-दिव्यपदावेशात् अन्यत् न अर्चनम् इत्याह—

पूजा नाम न पुष्पाद्यैर्या मतिः क्रियते दृढा ।

निर्विकल्पे परे व्योम्नि सा पूजा ह्यादराल्लयः ॥ १४७ ॥

महाव्योम्नि परचित्प्रकाशे, आदरात् श्रद्धाप्रकर्षात्, यो लयों
विश्रान्तिः, सा यस्मात् पूजा तस्मात् पुष्पाद्यैः नाम न पूजा ॥१४७॥

परे व्योम्नि परचिदाकाशे लयः विश्रान्तिरेव तत्त्वतः पूजेति भावः ॥

अत्रैकतमयुक्तिस्थे योत्पद्येत दिनादिनम् ।

भरिताकारता सात्र तृप्तिरित्यन्तपूर्णता ॥ १४८ ॥

एकतमयुक्तिस्थे योगिनि इति शेषः ॥ १४८ ॥

अत्र प्रोक्तधारणामु, एकतमयुक्तिस्थे सिद्धसमाधानदाढ्ये योगिनि,
उत्तरोत्तरं निर्विकल्पसमाधिरसास्वादाद्या पूर्णस्वात्मस्वरूपलब्धिपूर्णता सा
तृप्तिरित्यर्थः ॥ १४८ ॥

महाशून्यालये बह्वौ भूताक्षविषयादिकम् ।

हूयते मनसा सार्धं स होमश्चेतनासुचा ॥ १४९ ॥

महाशून्यस्य शून्यातिशून्यपदस्य आसमन्तात् लयोयत्र परतत्त्वा-
त्मनि बह्वौ, तत्र भूतेन्द्रियविषयभुवनतत्त्वादिरूपं सकलं जगत्,
तद्विभागकल्पनाहेतुना सह, चेतना विश्वानुसंधात्री शक्तिरेव स्रुक्
तया हूयते यत्, स होमः अग्नौ हविर्दानम् इत्यर्थः ।

‘चितिः स्रुक् चित्तमाज्यम् ।’

इत्यादिश्रुतिः । स होमः स्रुक् च चेतना इति पाठान्तरम् ॥ १४९ ॥

महाशून्यालये शून्यातिशून्यरूपे परभैरवस्वरूपे बह्वौ भूतेन्द्रियतत्त्वादिरूपं
सर्वं जगत् संकल्पविकल्पात्मकं विभागकल्पनाहेतुना मनसा सह, यत्र चैतनैव
स्रुक् तया हूयते, स होमस्तत्त्वत इति ॥ १४९ ॥

यागोऽत्र परमेशानि तुष्टिरानन्दलक्षणा ।

क्षपणात्सर्वपापानां त्राणात्सर्वस्य पार्वति ॥ १५० ॥

यागो देवपूजा ॥

उक्तसमाधानोत्थानन्देन तुष्टिरेव यागो देवपूजा, पाशक्षपणभवत्राण-
धर्मत्वादानाश्रितशक्त्यावेश एव क्षेत्रं न च पुनः कुरुक्षेत्रधर्मक्षेत्रादिगमनादि ।
रुद्रशक्तिसमावेशः—सर्वज्ञत्वादपि दृष्टशक्तिप्रादुर्भावेति ॥ १५० ॥

रुद्रशक्तिसमावेशस्तत्क्षेत्रं भावना परा ।

अन्यथा तस्य तत्त्वस्य का पूजा कश्च तृप्यति ॥ १५१ ॥

पशुप्रमातुः, रुद्रप्रमातृणां पतिरूपाणां या शक्तिः अनाश्रिताख्या तस्याम् समावेशः तन्मयीभवनं तदेव क्षेत्रम् इति अन्वयः । हेतुरूपेण क्षेत्रपदं निर्वक्ति-क्षपणात् इति । तत् क्षेत्रं न पुनः कुरुक्षेत्रादि ॥ १५१ ॥

प्रकारान्तरेणाद्वैतसत्तत्त्वस्य पूजनतर्पणादिकर्म व्यतिरिक्तं न संभवतीति भावः ॥ १५१ ॥

यागक्षेत्रादि किम् कथम् इति देवीप्रश्नविषये आदिशब्दग्राह्यं स्नानमपि निर्दिशति—

सदाचारेषु मुख्यतयानुष्ठेयं स्नानमपि निर्दिशति—

स्वतन्त्रानन्दचिन्मात्रसारः स्वात्मा हि सर्वतः ।

आवेशन तत्स्वरूपे स्वात्मनः स्नानमीरितम् ॥ १५२ ॥

स्वात्मस्वरूपे आवेशनमेव मुख्यं स्नानम् इति भावः ॥ १५२ ॥

निगदितधारणाभ्यासेनाद्वैतस्वात्मस्वरूपस्य स्वतन्त्रानन्दचिन्मात्रसारतया-
नुभवात्तत्स्वरूपे लयभावनैव मुख्यं स्नानमित्यर्थः ॥ १५२ ॥

यैरेव पूज्यते द्रव्यैस्तर्प्यते वा परापरः ।

यश्चैव पूजकः सर्वः स एवैकः क पूजनम् ॥ १५३ ॥

यैः इति कुसुमादिभिः अलिबलिपिशितादिभिश्च । परापरः इति परादेव्या सहितः परः परमेश्वरः । अतः क्व पूजनम् उक्तपारमार्थिक-
पूजाव्यतिरेकेण न किञ्चित् अन्यत् पूजनादि इत्यर्थः ॥ १५३ ॥

यैरेव द्रव्यैः कुसुमादिभिः पूज्यते, क्षीरखण्डादिभिर्वा तर्प्यते, परापर इति परादेव्या सहितः परः भैरवः इति, यश्चैव पूजकः स एव पूज्य इत्येतेन तत्त्वज्ञानेन क्व पूजनम् स्थूलमार्गेण, यत् सर्वस्य पूज्यपूजादेस्तदेकस्वरूपतया क्वापि भिन्नता नेति भावः ॥ १५३ ॥

ब्रजेत्प्राणो त्रिशेज्जीव इच्छया कुटिलाकृतिः ।

दीर्घात्मा सा महादेवी परक्षेत्रं परापरा ॥ १५४ ॥

प्राणप्रवेशनसमये अपानस्य संघट्टनात् हृदयादौ । अस्य पक्षस्य विस्तृतो रहस्यार्थस्तन्त्रालोकादौ निगदितस्तत् एवावधार्यः, तत्रापि गुरुमुखत एव समाधेयतया नास्माभिरिह वितानित इति क्षन्तव्यम् ॥ १५४ ॥

अस्यामनुचरन् तिष्ठन् महानन्दमयेऽध्वरे ।

तया देव्या समाविष्टः परं भैरवमाप्नुयात् ॥ १५५ ॥

पट् शतानि दिवा रात्रौ सहस्राण्येकविंशतिः ।

जपो देव्याः समुद्दिष्टः प्राणस्यान्ते सुदुर्लभः ॥ १५६ ॥

‘ऊर्ध्वं प्राण’ इति सकार-हकारजपात्मिकां परां देवीम् उप-क्रान्ताम् ‘होच्चारं मनसा कुर्वन्’ इति हंसोच्चारं मनसा कुर्वन् शान्ते प्रलीयते इति मध्ये अभिहिताम्, पुनः सर्वेषु श्लोकेषु चतुर्थचरणेषु फलभूतां शून्यभूमिं प्रज्ञापारमितां निर्विकल्पावस्थां श्लोकत्रयेण अन्ते उपसंहरति,—व्रजेत्प्राण इत्यादि । प्राणः ‘सः’ इत्येवंरूपः प्रकाशो व्रजेत वहिः निःसरेत्, जीवः ‘अहम्’ इत्येवंप्रकारः क्षपारूपः, प्राणस्य वहिर्निःसरणे अपानस्य अन्तःप्रवेशने जीवात्मता संभवति इति संभावनायां लिङ् । जीवस्य प्राणान्तर्वर्तित्वात्, प्राणस्य हकार-लिपिवत् कुटिलाकृतित्वात् जीवोऽपि कुटिलः, प्रत्यावृत्त्य अन्तःप्रवेशा-भावे जीव एव न स्यात् इति अपानदशैव जीवप्रादुर्भावः इत्यतो ‘विशेत् जीवः’ इति उक्तम् । वक्रत्वमपि तस्य स्वतन्त्रपरमेशेच्छयैव । कुण्डलिन्या अधोमुख्या; सार्धत्रिवलयाकारत्वात् तदन्तःस्था प्राण-शक्तिरपि कुटिला । प्राणान्तर्वर्ती आकाशो बालाग्रशतभागानाम् अन्तिमो भागः परमसूक्ष्मो निराकृतिः । आधारवक्रतया आधेयस्यापि उपचारात् वक्रत्वम्, न तु तत्त्वतः इति प्राण एव कुटिलः । हृदया-काशसंविन्मात्रात् जीवदशोद्भूतिः

प्राक् संवित्राणे परिणता ।’

इति श्रुतेः । पूर्णाहंविमर्शसंविन्मात्रात् न्यूनदेहाभिमानि जीवत्वम्, महाकाशत्वे सति घटाद्याकाशोद्भूतिवत् । इडायां वामनाड्यां संवलनात्, पिङ्गलायां दक्षनाड्यां वलनात् प्राणशक्तेः द्विवलया-कारत्वं । सुषुम्नाख्या मध्यनाडी तु सार्धमात्रात्मकत्वात् सार्धा । प्राणस्य हृदाकाशात् आरोहणेन प्राणात्मकतया ‘हम्’ इति, द्वाद-

शान्तात् अवरोहणेन अपानदशया 'स' इति वर्णद्वयोत्पत्तिः । जीवस्य जीवत्वमेतद्वर्णद्वयव्यक्तभाषणेन

‘हंस-हंसेति मन्त्रेण जीवो जपति सर्वदा ।’

इति, उक्तत्वात् जीव एव जपति, न तु परमेश्वरः—हंस इति मन्त्रेण न्यूनाभिमानघटनात्, ईश्वरदशायां तु पूर्णाहन्तात्मकतया ‘अहं सः, सोऽहम्, अहम् इदम् इत्यादिविमर्शच्छ्रितत्वात् इदं त्याज्यम्, इदम् उपादेयम्, इदं मम, न इदं मम इति हान-समादानधर्मित्वात् हंसत्वम् । एवं चिदकर्करश्मिविकासे दिनप्रकाशः प्राणः, तत्संकोचेन रात्रिरपानः । एवं स-हयोः धर्माधर्मयोः, दीर्घह्रस्वयोः, दिनक्षपयोः, अग्नीषोमयो, मूलभूता हृदाकाशसंवित् शून्यभूमिः परा देवी विज्ञान-तन्त्रे सर्वसाधारणा फलभूता निर्दिष्टा । एतस्या विततरूपत्वं दर्शयति ‘दीर्घात्मा सा महादेवी परक्षेत्रं परापरा ।’ इति । सा महादेवी महदम्बरैकप्रकाशस्वरूपा संविद्गगनचरो यमातृप्रमेयप्रमाणगामिनी ‘स-ह’-इति वर्णद्वयसत्ताप्रदा तद्विश्रान्तिभाजनम्, तन्मूर्धाकाश-स्थत्वात् तटस्थरूपत्वेन स्थिता तत्पाश्वस्थान्तर्बहिष्करणविसर्गकर्त्री अजपा—अव्यपदे श्यापि सती वितताकृतिर्भवति । तस्या एव विस्तारो द्वैतसंपत्तिदिनक्षपात्मिका । सैव परं क्षेत्रं सर्वपाशानाम् क्षपणात्, सर्वस्य त्राणात् तीर्थभूमिर्वा सा, न तु कुरुक्षेत्रादि क्षेत्रम् । इयं परापरा दशा—भेदाभेदात्मकतया अहम् इति प्राधान्येन, इदम्-इति गुणीकारेण, अर्थतः तच्छब्दास्मच्छब्दयोः अभेदः, तत्तया मत्तया निर्देशेन भेदश्च इति परापरात्वम् । स्फुटवाच्यहकार-सकारान्तर्गमिता परा देवी अन्तः प्रवेशदशायां हं-कारस्य मस्तकोर्ध्वं

‘अम् इत्यनुस्वारः ।’

इति कृतलक्षणानुस्वाररूपा केवलबिन्दुतया अजप्या । एवं बहिः निःसरणदशायां सः-कारपाश्वे

‘अः इति विसर्जनीयः ।’

इति कृतलक्षणविसर्जनीयात्मिका अकारं विना बिन्दुद्वयस्य अनुच्चार्य-त्वात् अजपा । एवं वर्णक्रमेण अजपात्वम् । संवित्क्रमेण तु संवि-त्प्रकाशेन सर्वशब्दस्फुरणम् । तत्स्फुरणं तु न केनचिदपि संभवति—संविदन्तराभावेन स्वप्रकाशत्वात्, स्वप्रकाशस्य च परप्रकाशान-पेक्षत्वात् प्रदीपस्य प्रदीपान्तराभाववत् । ननु जीवोऽस्ति हंसमन्त्र-

जीवः, तन्मन्त्रमात्रविमर्शानुसरणेन तस्य पूर्णाहंविमर्शः कथं जायते, ?
इति चेत् ब्रूमः—अत्राहुः महेश्वरानन्दपादाः

‘यदि निजहृदयोल्लासं निर्णेतुं नित्यनिष्कलमिच्छा ।

मध्यतुटिस्तुटितव्या अस्तङ्गतयोः सोमसूर्ययोस्तर्हि ॥’

इति । सोमः अपानो—हकारः सकलवेद्यवर्गपोषकत्वात्, ज्ञातृत्वात्
सकारात्मा सूर्यः हंकार-सः कारयोः अस्तङ्गतयोः सतोः मध्यतुटिः
उद्धतंव्या—माणिक्यमालिन्यादिवत् । सकारस्य अस्तङ्गमनं स्वहृदये
विसर्जनीये हकारस्य च स्वहृदयसंयुटीकरणलक्षणे अनुस्वारे यदा
विश्रान्तिः तदा मध्यमा तुटिः—विभज्यावस्थानक्षणलक्षणो यः
कालखण्डः स उत्तुटितव्यः, तदानीम् ‘अहं सः’ इति विमर्श उत्पद्यते ।
हंसमन्त्रश्लिष्टः अहं सः, सोऽहम् इति महामन्त्रः, स एव विमृष्टव्यः
स्वात्मप्रत्यभिज्ञानोपायत्वात् ।

जयरथस्तु—स-हाभ्यां—सकार-हकाराभ्यां जातो जपः सहजोऽ-
कृत्रिमः ।

‘स-हौ क्षपादिनामानावधरोत्तरचारिणौ ।

परस्परद्वेषरतौ मत्तौ नागहुडोपमौ ॥

कस्तौ रोधयितुं शक्तौ वीर्यं मुक्त्वास्वरं महत् ॥’

इति । अत्र क्षपादिनामानौ इति क्षपा-दिनाभ्याम् आ समन्तात्
मननं ज्ञानं ययोः इति यथाक्रममपानस्य प्राणस्य च क्षपया दिनेन च
शास्त्रीयो व्यपदेशः । यदाशयेन वीरावलिकुले

‘सितासितौ दीर्घह्रस्वौ धर्माधर्मौ दिनक्षपे ।

क्षीयेते यदि तद्दीक्षा व्याप्त्या ध्यानेन योगतः ॥’

इति । शुक्लो दिनम्, कृष्णा रात्रिः । प्रकाशविकासेन दिनस्य
दीर्घता, तत्संकोचेन रात्रिर्ह्रस्वा । वेदोक्तविध्यधिकारबाहुल्यात्
धर्मत्वं दिनस्य, रात्रेस्तु तदनधिकारात् अधर्मता । त्रयोतनुत्वं सूर्य-
स्यैव, न तु चन्द्रस्य । कुम्भकावस्थया प्राणापानयोः प्रशान्तिः
योगिनाम् अभीष्टैव, अत एव क्षीयेते तौ इति उक्तम् । अन्यथा हि
वृथायुर्हरणम् अनवरतजन्ममरणप्रवाहकारणं विदध्यातां । श्रुति-
स्मृतिषु तु दिनक्षपयोः श्वत्वेन निर्देशः कृतः, मृत्युदूतत्वात् आयु-
हंरणात् जनहिंसकत्वाच्च । तथा च ब्राह्मणम् ।

‘पतौ वै यमश्चौ यमस्य श्वानौ यदहोरात्रे ताविदं
मनुष्याहरणावन्तः प्राणप्रवेशेनोपसृजन्तौ प्रवहतः ।’
इति । तथा यमसूक्तं च

‘यौ ते श्वानौ यम रक्षितारौ चतुरक्षौ पथिरक्षौ नृचक्षसौ ।
ताभ्यामेनं परिदेहि राजन् स्वस्ति चास्मि । अनमीवं च देहि ॥
उदनसावसुतृपा उदुद्रलौ यमस्य दूतौ चरतो जनां अनु ।
तावस्मभ्यं दृशये सूर्याय पुनर्दातामसुमद्येह भद्रम् ॥’

चतुरक्षौ चतुरपरिवर्तिनौ—दिनात् अनन्तरं रात्रिः तस्या अनन्तरं
दिवसः इति, एवम् अविच्छिन्नपरिवर्तिनौ इत्यर्थः । शकन्ध्वादिवत्
चतुरक्षौ इति रूपम्, चतुर निपुणं चक्रभ्रमणं ययोः तौ इति विग्रहः,
चक्रवाचको हि अक्षशब्दः, चक्रेण परिवर्तनं लक्ष्यते, चतुरचक्रौ

‘श्वानौ द्वौ श्यावशवलौ वैवस्वतकुलोद्भवौ ।
ताभ्यां पिण्डं प्रदास्यामि स्यातां मे तावद्दिसकौ ॥’

इति कपिशवर्णः श्वा रात्रिः, चित्रवर्णः श्वा दिनम्, प्रातःकाले रक्त-
प्रकाशे, मध्याह्ने शुक्लतायाम्, सायं श्यामत्वेन, कर्बुरवर्णत्वात्
दिनस्य । वैवस्वतोऽत्र मृत्युः तद्गृहोत्पन्नत्वात् तद्रक्षकत्वात् जनायु-
हरणात् मृत्युदूतौ, तदर्थं पाञ्चभौतिकं पिण्डमेव पिण्डं कवलं
दास्यामि—ममतायाः त्यजामि । शुनो हि भक्तादिपिण्डदानं लोके
ख्यातम्, अहोरात्रिपरिवृत्त्या भौतिकपिण्डस्य संजातजीर्णभावस्य
क्षतिः इत्यतः—पिण्डं प्रदास्यामि इति उक्तम् । मम पुनः चिद्रूपस्य
अविनाशिन एतद्गतिपरिवर्तनस्य अङ्गीकृतप्राणापानगतिविच्छेदे
तौ श्वानौ हिसकौ न भवेताम्, तत्कृतं हिसनं न संभवति, इति
संभावनायां लिङ् । शुनः सकाशात् अवश्यं तद्विरचितदंशननिरा-
करणेन स्वात्मरक्षणं विधेयम् । तस्मात् योगेन ध्यानेन यदि तौ
क्षीयेते तदा दीक्षा,—ज्ञानसद्भावः पशुवासनाक्षयश्च, इति दिक् ।
अस्वरं पुनः निर्विभागा पश्यन्ती भूमिः इति केचित् आमनन्ति । यत्
आदिष्टं श्रीवामननाथेन

‘अप्राणमस्वरं ध्यात्वा पश्यन्त्या निर्विभागया ।

चिन्मात्रस्पर्शयोगेन विलीनः स्यात्परे पदे ॥’

इति । अस्यापि मूलभूः

‘ततोऽस्वरोऽर्कसोमाग्निकलावीजप्रसूतिभाक् ।

उदेत्येकः समालोकः प्रमाणार्थप्रमातृगः ॥’

इति । अर्थः प्रमेयम् इति श्रीक्रमस्तोत्रसंवादात् अपादानत्वेन परैव देवी देशकालाकारावच्छेदविनाशिनी समालम्भनीया । एषैव भगवती निरावरणरूपा प्रज्ञापारमिता इति उच्यते तत् उक्तम्

निष्प्रपञ्चा निराभासा निर्विकल्पा निरामया ।

निःस्वभावा परा सूक्ष्मा बिन्दुनादविवर्जिता ॥

प्रज्ञापारमितापारा सर्वबुद्धोदया परा ।’

इति । इयमेव शून्यभूमिः विज्ञानतन्त्रे परमगिवेन उपदिष्टा सर्वत्र, अन्यदर्शनेषु शून्यावस्थाया मोक्षत्वं प्रतिपाद्यते । भावनाबलेन यः साक्षात्कारः स शैवशास्त्रेषु मायागर्भपरिभ्रमणमेव इति निश्चिनुमः, इति अलम् । अस्यां परापराभूमौ सकार-हकारसंघट्टात्मको य आनन्दः स महानन्दः तन्मये यज्ञे ‘सोऽहम्’ इति विमर्शरूपे अनुचरन् तिष्ठन्-तया पश्यन्त्या सह एकीभूतः सन् परास्वरूपो भवेदेव इत्यर्थः । ‘हंस’ इति मन्त्राणाम् अहर्निशं यावती संख्या जायते तत् दर्शयति-षट् शतानि इति । सुदुर्लभः इति-अजपाजपविमर्शन प्राणनिर्याणसमये बहुतरजन्माजितपुण्यातिशयेन लभ्यते इति शिवम् ॥ १५६ ॥

प्राणस्यान्ते पर्यवसानावस्थायाम् ॥ १५६ ॥

इत्येतत्कथितं देवि परमामृतमुत्तमम् ।

एतच्च नैव कस्यापि प्रकाश्यं तु कदाचन ॥ १५७ ॥

परशिष्ये खले क्रूरे अभक्ते गुरुपादयोः ।

निर्विकल्पमतीनां तु वीराणामुन्नतात्मनाम् ॥ १५८ ॥

निर्विकल्पमत्तित्वादेव वीराणां छिन्नसंशयशत्रूणाम्, उन्नतः शुद्धविद्याप्रधानो न तु मायापतितः आत्मा येषाम् ॥ १५८ ॥

निर्विकल्पमतीनां वीराणां छिन्नसंशयानाम्, उन्नतात्मनां शुद्धविद्या-प्रधानमायोत्तीर्णानाम् ॥ १५८ ॥

भक्तानां गुरुवर्गस्य दातव्यं निर्विशङ्कया ।

ग्रामो राज्यं पुरं देशः पुत्रदारकुटुम्बकम् ॥ १५९ ॥

तत्त्वोपदेशकस्य देहप्रमातृकृतभेदस्य, वस्तुतः शिवैकरूपस्य गुरोः,
न तु नियतस्यैव कस्यचित्, भक्तानां निर्विशङ्कं प्रकाशनीयम् ॥

दिव्यौघ-सिद्धौघ-मानवौघादिगुरुरूपं भक्तानाम् प्रदेयमेतद्रहस्यज्ञानमिति ॥

सर्वमेतत्परित्यज्य ग्राह्यमेतन्मृगेश्वरेण ।

किमेभिरस्थिरैर्देवि स्थिरं परमिदं धनम् ॥ १६० ॥

ग्राह्यम् इति आत्मीकार्यम् । स्थिरं धनम् इति सर्वदौर्गत्य-
हरत्वात् ॥ १६० ॥

राज्याद्यस्थिराननुगामिद्रव्यसंपत्त्यागेनैतदक्षयमनुवर्तमानमनुत्तरसुखफलं
स्थिरधनं संग्राह्य यत्सर्वथादेयं निर्दिष्टापात्रेभ्य इति ॥ १६० ॥

प्राणा अपि प्रदातव्या न देयं परमामृतम् ।

श्रीदेवी उवाच—

देवदेव महादेव परितृप्तास्मि शंकर ॥ १६१ ॥

रुद्रयामलतन्त्रस्य सारमद्यावधारितम् ।

सर्वशक्तिप्रभेदानां हृदयं ज्ञातमद्य च ॥ १६२ ॥

इत्युक्तवानन्दिता देवी कण्ठे लग्ना शिवस्य तु ॥ १६३ ॥

सर्वसंशयत्यागपूर्वं परमानन्दपदप्रवेशेन शिवैकमयीभूता—इति
भावः ॥ १६३ ॥

इत्येतानि पद्यानि स्पष्टव्याख्यानानि, तस्मादलं विवरणेन ॥ १६३ ॥

श्रुतं देव मयेत्यादिप्रश्नग्रन्थार्थबन्धनम् ।

ऊर्ध्वं प्राणादिपद्यान्तं क्षेमराजकृतं शुभम् ॥

ततः परमुपाध्यायकुशकाशाबलम्बनम् ।

यद्वृत्तिग्रन्थकाकलपुस्तकं हस्तगोचरम् ॥

भूजतिमकं वा नायातं जग्धं कालघुणेन तत् ।
दग्धं वा वह्निना च्छिन्नमत्र साक्षी महेश्वरः ॥

विज्ञानतन्त्रविवृतिः कृतसंग्रहेयं
वृत्त्यन्तरात्क्वचिदपि स्वमतेर्विलासात् ।
नाम्ना शिवेतिगुणिकौशिकगोत्रजात्यो-
पाध्यायशब्दयुतयाप्युपलक्षितेन ॥

सुखजीवनाभिधाने रक्षति काश्मीरमण्डलं नृपतौ ।
अगमन्निःशेषत्वं विज्ञानोद्द्योतसंग्रहः सुगमः ॥ ५ ॥

समाप्तोऽयं विज्ञानभैरवोद्द्योतः ।

श्रीविद्यानुग्रहावाप्तप्रेक्षालेशस्त्रिकागमान् ।
आलोड्यालोच्य तत्तत्त्वसंग्रहार्थं सुविस्तृतम् ॥ १ ॥
विज्ञानभैरवे गूढपथे पदप्रबोधिनीम् ।
दुर्ध्वान्तभवदुःश्वभ्रविभ्रंशात्पालनोदिताम् ॥ २ ॥
वेदसप्तर्षिवेदान्त्ययुगाब्दमधुपक्षती ।
विज्ञानकौमुदीमेतां भट्टानन्दो व्यकासयत् ॥ ३ ॥
समाप्तेयं विज्ञानकौमुदी नाम विज्ञानभैरवटीका ।



मूलश्लोकानामकराद्यनुक्रमणिका

श्लोकप्रतीकं	श्लोकसंख्या	पृष्ठसंख्या
अजरामरतामेति	१४१	१०३
अतत्त्वमिद्रजालाभं	१३३	६५
अत्र चैकतमे युक्तो	१४०	१०३
अत्रैकतमयुक्तिस्थे	१४८	१०६
अद्यापि न निवृत्तो मे	२	३
अनागतायां निद्रायां	७५	५२
अनाहते पात्रकर्णे	३८	२६
अन्तः स्वानुभवानन्दा	१५	६
अब्रबुद्धमतीनां हि	१३	६
अविन्दुमविसर्गं च	६०	६१
अस्य सर्वस्य विश्वस्य	५७	३६
अस्यामनुचरंस्तिष्ठन्	१५५	१०८
अहं ममेदमित्यादि	१३१	६३
आकाशं विमलं पश्यन्	८४	५८
आत्मनो निर्विकारस्य	१३४	६६
आधारेष्वथ वा शक्त्या	११२	७८
आनन्दे महति प्राप्ते	७१	४६
आ मूलात्किरणाभासां	२८	२०
आसने शयने स्थित्वा	८२	५८
इच्छायामथ वा ज्ञाने	६८	६८
इत्युक्त्वानन्दिता देवी	१६३	११३
इत्येतत्कथितं देवी	१५७	११२
इन्द्रजालमयं विश्वं	१०२	७०
इन्द्रियद्वारकं सर्वं	१३६	६८
इदृशेन क्रमेणैव	३३	२
उद्गच्छन्तीं तडिद्रूपां	२६	२०

श्लोकप्रतीकं	श्लोकसंख्या	पृष्ठसंख्या
उपविश्यासने सम्यक्	७६	५६
उभयोर्भविष्योन्नति	६१	४१
ऊर्ध्वं प्राणो ह्यधो जीवः	२४	१६
एवमुक्तव्यस्थायां	१४३	१०४
एवमेव जगत्सर्वं	५३	३६
एवमेव दुर्निशायां	८७	६०
एवमेव निमील्यादौ	८८	६१
एवंविधा भैरवस्य	१७	१०
कपालान्तर्मनो न्यस्य	३४	२३
करङ्किण्या क्रोधनया	७७	५४
कररुद्धदृगस्त्रेण	३६	२५
कामक्रोधलोभमोह	१०१	७०
कालाग्निना कालपदात्	५२	३६
किं वा नवात्मभेदेन	३	४
किञ्चिज्ज्ञातं द्वैतदायि	८६	५६
किञ्चिज्ज्ञैर्या स्मृता शुद्धिः	१२३	८४
किञ्चिदङ्गं विभिद्यादौ	६३	६५
कुम्भिता रेचिता वापि	२७	१६
कुहनेन प्रयोगेन	६६	४४
कूपादिके महागते	११५	७८
क्रमद्वादशकं सम्यक्	३०	२१
क्वचिद्वस्तुनि विन्यस्य	१२०	८२
क्षुताद्यन्ते भये शोके	११८	८१
गीतादिविषयास्वादात्	७३	५०
गूहनीयतमं भद्रे	८	८
ग्राह्यग्राहकसंवित्तिः	१०६	७३
घटादिभाजने दृष्टि	५६	४०
घटादौ यच्च विज्ञानं	१०५	७३
चलासने स्थितस्याथ	८३	५८
चित्ताद्यन्तः कृतिर्नास्ति	६४	६६

श्लोकप्रतीकं	श्लोकसंख्या	पृष्ठसंख्या
चिद्धर्मा सर्वदेहेषु	१००	६६
जग्धिपानकृतोल्लास	७२	४६
जलस्येवोर्मयो बल्लेः	११०	७६
जीवन्नपि विमुक्तोऽसौ	१४२	१०४
ज्ञानप्रकाशकं सर्वं	१३७	६८
ज्ञगितीच्छां समुत्पन्नां	६६	६६
तत्त्वतो न नवात्मासौ	११	६
तदसारतया देवि	६	८
तद्वपुस्तत्त्वतो ज्ञेयं	१६	१०
तनूदेशे शून्यतैव	४६	३३
तन्त्र्यादिवाद्यशब्देषु	४१	२८
तथापूर्वाणि मूर्धानं	३१	२१
तेजसा सूर्यदीपादेः	७६	५३
दिक्कालकलनोन्मुक्ता	१४	६
देव देव त्रिशूनाङ्क	२२	१२
देहान्तरे त्वग्विभागं	४८	४२
धामान्तः क्षोभसंभूत	३७	२५
ध्यानं हि निश्चला बुद्धिः	१४६	१०५
ध्यानार्थं भ्रान्तबुद्धीनां	१०	८
न चिषं निक्षिपेद्दुःखे	१०३	७१
न द्वेषं भावयेत्क्वापि	१२६	८८
न मे बन्धो न मोक्षो मे	१३५	६७
न बल्लेर्दाहिका शक्तिः	१६	११
न व्रजेन्न विशेषछक्तिः	२६	१८
न हि वर्णविभेदेन	६	६
नादबिन्दुमयं वापि	४	४
नादबिन्दुमयो वापि	१२	६
निजदेहे सर्वदिक्कं	४३	३१
नित्ये निराश्रये शून्ये	१२८	६०
नित्यो विभूर्निराधारो	१३२	६४

श्लोकप्रतीकं	श्लोकसंख्या	पृष्ठसंख्या
निराधारं मनः कृत्वा	१०८	७५
निर्निमित्तं भवेज्ज्ञानं	६६	६६
निवृक्षगिरिभिस्त्यादि	६०	४१
निस्तरङ्गोद्देशानां	१३६	१०३
परशिष्ये खले क्रूरे	१५८	११२
परापरायाः सकलं	५	६
पिण्डमन्त्रस्य सर्वस्य	४२	२६
पीनां च दुर्बलां	५५	३७
पूजा नाम न पुष्पाद्यैः	१४७	१०५
पृष्ठशून्यं मूलशून्यं यु-	४४	३२
पृष्ठशून्यं मूलशून्यं ह-	४५	३२
प्रणवादिसमुच्चारात्	३६	२६
प्रसादं कुरु मे नाथ	७	७
प्राणा अपि प्रदातव्या	१६१	११३
भक्तानां गुरुवर्गस्य	१५६	११३
भक्त्युद्रेकाद्विरक्तस्य	१२१	८२
भया सर्वं रवयति	१३०	६१
भावे न्यक्ते निरुद्धा चित्	६२	४२
भुवनाध्वादिरूपेण	५६	३७
भूयो भूयः परे भावे	१४५	१०५
भ्रान्त्वा भ्रान्त्वा शरीरेण	१११	७७
मध्यजिह्वे स्फारितास्ये	८१	५७
मध्यनाडी मध्यसंस्था	३५	२४
मरुतोन्तर्बहिर्वापि	२५	१७
महाशून्यालये बह्वी	१४६	१०६
मानसं चेतना शक्तिः	१३८	१००
माया विमोहिनी नाम	६५	६६
मृद्वासने स्फिजैकेन	७८	५६
यत्र यत्र मनस्तुष्टिः	७४	५१
यत्र यत्र मनो याति तत्तत्तेन	१२६	६०

श्लोकप्रतीकं	श्लोकसंख्या	पृष्ठसंख्या
यत्र यत्र मनो याति बाह्ये	११६	७६
यत्र यत्राक्षमार्गेण	११७	८१
यथा तथा यत्र तत्र	५१	३५
यथालोकेन दीपस्य	२१	१२
यथा सम्यगहं वेद्यि	२४	१३
यदवेद्यं यदग्राह्यं	१२७	८८
यदा ममेच्छा नोत्पन्ना	६७	६८
यस्य कस्यापि वर्णस्य	४०	२८
यस्य कस्येन्द्रियस्यापि	८६	६१
यागोऽत्र परमेशानि	१५०	१०६
यावस्था भरिताकारा	२३	१२
यैरेव पूज्यते द्रव्यैः	१५३	१०७
रुद्रयामलतन्त्रस्य	१६२	११३
रुद्रशक्तिसमावेशः	१५१	१०७
लीनं मूर्ध्नि वियत्सर्वं	८५	५६
लेहनामन्थनाकोटैः	७०	४८
वर्णस्य सविसर्गस्य	६१	६४
वस्तुषु स्मर्यमाणेषु	११६	८२
वस्त्वन्तरे वेद्यमाने	१२२	८३
बह्वैर्विषस्य मध्ये तु	६८	४६
वायुद्वयस्य संघट्टात्	६४	४३
विश्वमेतन्महादेवि	५८	४०
विहाय निजदेहास्थां	१०४	७१
व्योमाकारं स्वमात्मानं	६२	६५
व्रजेत्प्राणो विशेषजीवः	१५४	१०७
शक्तिशक्तिमतोर्यद्वत्	१८	११
शक्तिसंगमसंक्षुब्ध	६६	४७
शक्त्यवस्थाप्रविष्टस्य	२०	१२
शिखिपक्षैश्चित्ररूपैः	३२	२२
क्षुतं देव मया सर्वं	१	३

श्लोकप्रतीकं	श्लोकसंख्या	पृष्ठसंख्या
षट्शतानि दिवारात्रौ	१५६	१०८
संकोचं कर्णयोः कृत्वा	११४	७८
समः शत्रौ च मित्रे च	१२५	८७
संप्रदायमिमं देवि	११३	७८
सर्वज्ञः सर्वकर्ता च	१०६	७६
सर्वं जगत्स्वदेहं वा	६५	४३
सर्वतः स्वशरीरस्य	५०	३५
सर्वत्र भैरवो भावः	१२४	८६
सर्वं देहगतं द्रव्यं	४७	३४
सर्वं देहं चिन्मयं हि	६३	४२
सर्वमेतत्परित्यज्य	१६०	११३
सर्वस्रोतोनिबन्धेन	६७	४४
स्थूलरूपस्य भावस्य	८०	५७
स्वतन्त्रानन्दचिन्मात्र	१५२	१०७
स्वदेहे जगतो वापि	५४	३६
स्ववदन्यशरीरेऽपि	१०७	७४
हूयते कस्य वा होमो	१४४	१०४
हृद्याकाशे निलीनाक्षः	४६	३४









